भारत में तान्त्रिक जीवन पद्धति

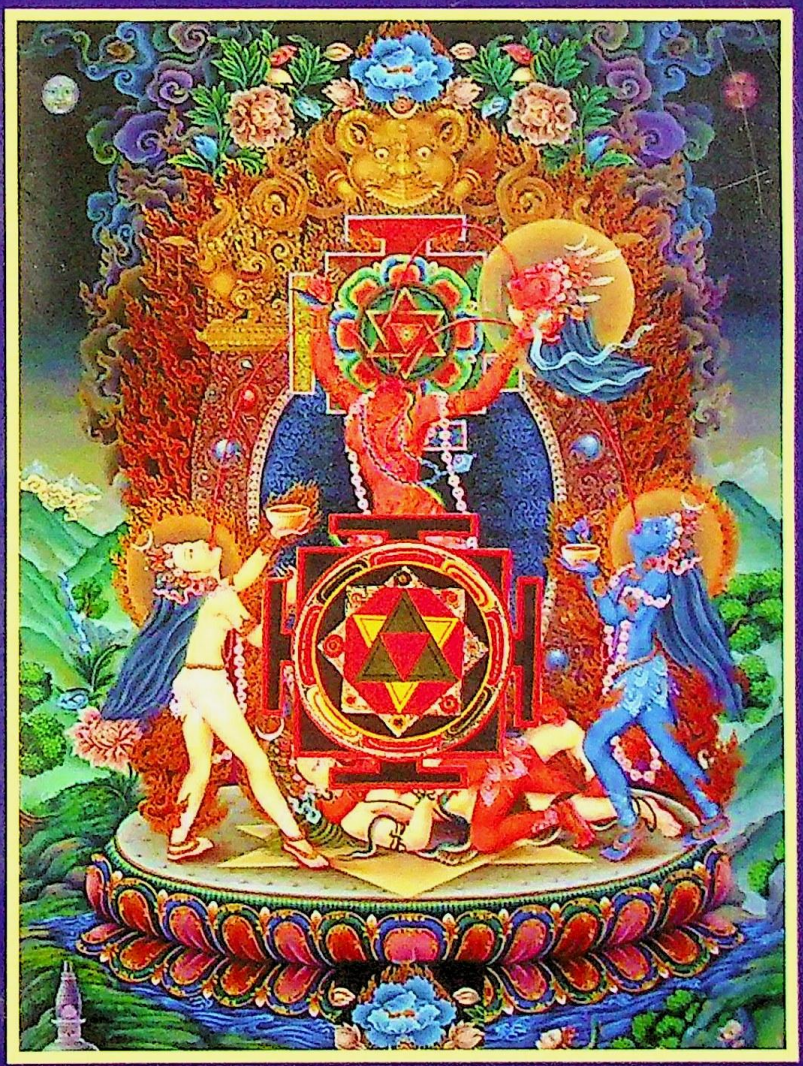

नवीन कुमार

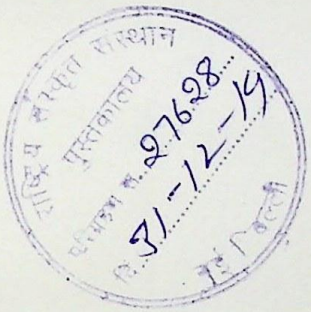
पुस्तकालय
31-12-15

भारत में तान्त्रिक जीवन पद्धति

भारत में तान्त्रिक जीवन पद्धति

केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय
पुस्तकालय
परिग्रहण सं 27628
दिल्ली

प्रणेता

नवीन कुमार

Forwarded free of cost
with the compliments of
Rashtriya Sanskrit Sansthan
(Deemed University) New Delhi

ज्ञानभारती पब्लिकेशन्स

दिल्ली भारत

प्रथम संस्करण : 2018

ISBN : 978-93-85538-34-6

© लेखक

मूल्य : 495

प्रकाशक :

ज्ञानभारती पब्लिकेशन्स

(प्राच्यविद्या प्रकाशक)

25/73, शक्तिनगर

दिल्ली-110007

दूरभाष : (O) 011-47084852, 09350884277

वितरक :

प्रतिभा प्रकाशन

7259/23, अजेन्द्र मार्केट, प्रेमनगर

शक्तिनगर, दिल्ली-110007

दूरभाष : (O) 011-47084852, 09350884227

e-mail : pratibhabooks@ymail.com

टाईप सेटिंग : **एस० के० ग्राफिक्स**

दिल्ली-84

मुद्रक : **एस० के० ऑफसेट,** दिल्ली

विषय सूची

प्राक्कथन	(vii)
अध्याय – 1	
भूमिका	1
अध्याय – 2	
तान्त्रिक साहित्य एवम् जीवन पद्धति	23
अध्याय – 3	
विभिन्न सम्प्रदायों में तन्त्रवाद	52
अध्याय – 4	
सामाजिक जीवन में तान्त्रिक जीवन पद्धति	74
अध्याय – 5	
राजनीतिक जीवन में तान्त्रिक जीवन पद्धति	101
अध्याय – 6	
आर्थिक जीवन में तान्त्रिक जीवन पद्धति	115
अध्याय – 7	
उपसंहार	130
सन्दर्भ ग्रन्थ सूची	140

प्राक्कथन

प्रत्येक युग विशेष राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों का बोधक होता है। भारत के इतिहास में सातवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक के इस काल को 'पूर्व-मध्यकाल' कहा जाता है। गुप्त युग के समान इस युग का नाम किसी राजवंश के नाम पर नहीं पड़ा। इसका कारण है कि इस युग में किसी ऐसे राजवंश का उदय नहीं हो पाया जो भारत के बड़े भाग को अपने अधीन कर विस्तृत साम्राज्य का रूप दे सके। इस समय राजनीतिक विकेन्द्रीयकरण के परिणामस्वरूप अनेक छोटे-छोटे राज्यों का उदय हुआ जो आपस में अपने अस्तित्व एवं विस्तार के लिए युद्धरत रहते थे। डी०डी० कौशाम्बी, डी०एन० झा, आर०एन० नंदी, बी०डी० चट्टोपाध्याय और आर०एस० शर्मा आदि इतिहासकारों ने अपने अध्ययनों के अंतर्गत इस काल में अनेक परिवर्तनों को पाया। इन परिवर्तनों में से एक परिवर्तन था तान्त्रिक प्रवृत्तियों का विकास। इस युग में धार्मिक सम्प्रदायों के साथ-साथ सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में भी तान्त्रिक प्रवृत्तियाँ उभरकर सामने आयी।

प्रस्तुत पुस्तक में ''भारत में तान्त्रिक जीवन पद्धति'' में भारत में तान्त्रिक जीवन का गवेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का विनम्र प्रयास किया गया है। इस काल के अन्तर्गत इस विषय पर कम ही शोध कार्य हुआ है। जिनमें आर्थर एलोन की कृति *प्रिसिंपल्स आफ तन्त्राज* में हमें तन्त्रों की लम्बी सूची मिलती है। एन०एन० चौधरी कृत *माडर्न रिव्यू* तथा बी० भट्टाचार्य कृत *बुद्धिस्ट एसोटेरिज़्म* आदि में तन्त्र के उद्भव पर प्रकाश डाला है।

इस विषय पर लिखने वाले इतिहासकारों में पी०सी० बागची का नाम उल्लेखनीय है। इनके ग्रंथ *स्टड़ीज इन तन्त्राज़* में तान्त्रिक प्रवृत्तियों पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला गया है। इसी सन्दर्भ में भारतरत्न महामहोपाध्याय डॉ० पाण्डुरंग

वामन काणे ने अपनी पुस्तक *हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र* में तान्त्रिक प्रवृत्तियों का विस्तृत वर्णन किया है। इसके अलावा मेक्स वेबर, एम० विटंरनित्ज तथा आर०एस० शर्मा ने कुछ शोध-पत्र निकाले हैं। परन्तु इस पर अभी तक अधिक शोध-कार्य नहीं हुआ है।

प्रस्तुत पुस्तक ''भारत में तान्त्रिक जीवन पद्धति'' को लिखने का उद्देश्य भारत के पूर्व-मध्यकालीन उत्तर भारत में तान्त्रिक प्रवृत्तियों का धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन में पड़े प्रभाव पर प्रकाश डालना है। अध्ययन की दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक को सात अध्यायों में विभक्त किया गया है।

प्रथम अध्याय : 'भूमिका' में तन्त्र का अर्थ उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा उद्भव एवं विकास के बारे में अध्ययन किया गया है।

द्वितीय अध्याय : 'तान्त्रिक साहित्य एवं जीवन पद्धति' में तान्त्रिकों की जीवन पद्धति, प्रमुख सिद्धि, उनके अनुष्ठान, दीक्षा संस्कार, गुरू का महत्व तथा उनकी प्रमुख रचनाओं और कार्यों का अध्ययन किया गया है।

तृतीय अध्याय : 'विभिन्न सम्प्रदायों में तंत्रवाद' में तन्त्रवाद का विभिन्न सम्प्रदायों में प्रचार-प्रसार का अध्ययन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय : 'सामाजिक जीवन में तान्त्रिक जीवन पद्धति' में ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों की जीवन शैली पर पड़े तान्त्रिकों के प्रभाव का अध्ययन किया गया है। इसके साथ-साथ स्त्रियों द्वारा अपनाए कुछ तान्त्रिक अनुष्ठानों का भी अध्ययन किया गया है और समाज में फैले ज्योतिष एवं शकुन विचारों का अध्ययन किया गया है।

पंचम अध्याय : 'राजनीतिक जीवन में तान्त्रिक जीवन पद्धति' में प्रशासनिक क्षेत्र में, तान्त्रिकों की प्रमुख भूमिका एवं कार्यों के साथ दरबार में उनकी प्रमुख भूमिका का अध्ययन किया गया है।

षष्ठम अध्याय : 'आर्थिक जीवन में तान्त्रिक जीवन पद्धति' में भाग्य व भाग्यवाद, कृषि, उपज, पशुपालन, व्यापार-वाणिज्य में प्रवेश, तान्त्रिक प्रवृत्तियों का अध्ययन के साथ व्यवसायों का भी संक्षेप में विश्लेषण किया है।

सप्तम अध्याय : 'उपसंहार' में उपरोक्त अध्यायों का संक्षेप सार और शोध

में सामने आई उपलब्धियों का विश्लेषणात्मक विवरण दिया गया है तथा पुस्तक की उत्कृष्टता हेतु अन्त में सन्दर्भ ग्रन्थ सूची भी सलंग्न की गई है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन में सर्वाधिक योगदान करने वाले मेरे गुरु डॉ० विजय कुमार, प्रोफेसर, इतिहास विभाग के समुचित पथ-प्रदर्शन द्वारा इस कार्य में मेरी अपूर्व सहायता की है। उनकी कृपा दृष्टि व आशीर्वाद के फलस्वरूप मैं इस विषय को प्रस्तुत करने में सक्षम हुआ हूँ।

मैं, इतिहास विभाग के अध्यक्ष प्रोफेसर जयवीर सिंह धनखड़, प्रोफेसर बिन्दू मट्टू, प्रोफेसर उर्वशी दलाल के प्रति अपना आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने विषय के चयन से लेकर समाप्ति तक मुझे पूर्ण सहयोग एव मार्गदर्शन प्रदान किया। मैं प्रो० आनन्द कादयान (चौधरी धीरपाल गवर्मेन्ट कॉलेज, बादली) के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने पूर्ण सहयोग एवं मार्गदर्शन किया। मैं अपने परम आदरणीय पिताजी श्री महेन्द्र सिंह, माता जी श्रीमती बिमला के प्रति हृदय से आभार प्रकट करता हूँ, जिनके आशीर्वाद और प्रेरणा से यह ग्रन्थ पूरा हो पाया। इसके साथ मैं महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय के पुस्तकालाध्यक्ष एवं अन्य कर्मचारियों का भी हृदय से धन्यवाद करता हूँ, जिन्होंने मुझे इस कार्य को पूरा करने में सहयोग प्रदान किया।

ग्रन्थ के लेखन से लेकर प्रकाशन तक की यात्रा में जिन महानुभावों का प्रत्यक्ष व परोक्ष सहयोग मुझे प्राप्त हुआ है मैं उन सभी के प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

नवीन कुमार

अध्याय – 1

भूमिका

पूर्व-मध्यकाल प्राचीन एवं मध्यकाल के मध्य का समय है। इस काल का इतिहास सम्पूर्ण भारतीय इतिहास का सर्वाधिक विवादास्पद, रुचिपूर्ण और अत्यधिक महत्त्वपूर्ण चरण है। पूर्व-मध्यकालीन भारतीय इतिहास की छवि को ज्यादा स्पष्ट करने का परिपक्व प्रयास 1960-1970 के दशक में किया जाने लगा। इतिहासकार डी०डी० कौशाम्बी, आर०एस० शर्मा, बी०एन०एस० यादव, रोमिला थापर, डी०एन० झा, आर०एन० नन्दी आदि ने अपने अध्ययनों के अन्तर्गत सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में करीब 600 ई० सन् से 1200 ई० सन् के दौरान नवीन परिवर्तनों को पाया।

संभवत: इन परिवर्तनों का श्रेय गुप्तोत्तरकाल में हूणों के आक्रमण, व्यापार और वाणिज्य गतिविधियों का ह्रास, व्यापार में गिरावट, शहरी केन्द्रों का पतन और धात्विक मुद्रा का कम होना को दिया जा सकता है। इन परिवर्तनों ने प्राचीनकाल के मूल्यों की समाप्ति और मध्यकाल के मूल्यों के विकास को अग्रसर किया। वास्तव मे मध्यकाल का बुनियादी चरण पूर्व-मध्यकाल था। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के अन्तर्गत देखने से जानकारी मिलती है कि पूर्व-मध्यकाल की विशेषताएँ प्राचीनकाल की विशेषताओं से भिन्न थी। पूर्व-मध्यकाल परिवर्तन का काल था। इस काल में केन्द्रीय सत्ता का विकेन्द्रीयकरण हो रहा था व राज्य छोटे-छोटे टुकड़ों में बंट रहा था। यह काल स्थानीयकरण की भावना से प्रभावित था। दक्षिण भारत में विशाल मन्दिरों का निर्माण इस काल में हुआ, जिसमें देवदासियों की नवीन परम्परा विकसित हुई। भारतीय दर्शन में नवीन तत्त्व देखे जाने लगे, भक्ति भावना का महत्त्व बढ़ा। क्षेत्रीय शासकों, क्षेत्रीय धर्म

एवं क्षेत्रीय भाषा की संख्या बढ़ी। प्रशासनिक एवं धार्मिक केन्द्रों की संख्या बढ़ी, जातियों एवं उपजातियों की संख्या सौ से अधिक हो गई। छोटे-बड़े और काले-गोरे देवी-देवता पाए जाने लगे। जनसमुदाय की आर्थिक दशा संकटपूर्ण रही। इस काल में प्राचीन क्षत्रियों के बदले एक नये राजपूत वर्ग का उदय हुआ। इस काल में राजाओं के बीच हमेशा युद्ध का माहौल बना रहता था। इसी माहौल के कारण बाद में विदेशी शक्तियों ने इसका लाभ उठाया। इन परिवर्तनों के कारण इस काल को सामन्तवाद, नगरों का पतन और उत्थान, नवीन सामाजिक व्यवस्था का काल, क्षेत्रीय भाषा और क्षेत्रीय धर्म का काल, मन्दिरों का युग या राजपूत युग आदि के नाम से भी जाना जाता है।

इन नवीन परिवर्तनों में तन्त्रवाद विशेष रूप से इस समय अवधि में उभरकर सामने आता है, जिसके प्रभाव के कारण इस काल को भारतीय संस्कृति में संभवतः तान्त्रिक काल भी माना जाता है।[1] क्योंकि इस समय तान्त्रिक साधनाओं का इतने व्यापक रूप से प्रादुर्भाव हुआ कि सभी सम्प्रदाय चाहे वो वैदिक हो या अवैदिक, चाहे वे वैष्णव हो या शैव, बौद्ध हो या जैन, सभी तान्त्रिक सृष्टि तत्व, तान्त्रिक देवमंडल, तान्त्रिक मन्त्र, साधना, तान्त्रिक-आचार-विधान, हठयोगी साधनाओं का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से प्रश्रय देने लगते हैं। इसी कारण इस समस्त काल को ही विद्वानों ने तान्त्रिक काल के नाम से अभिहित किया है।

प्रस्तुत लघु-शोध प्रबन्ध में हमने अपने अध्ययन का क्षेत्र उत्तर भारत चुना है, क्योंकि हमें पुराणों तथा अन्य स्त्रोतों में जिस धार्मिक भूगोल की जानकारी मिलती है, उससे मालूम होता है कि तन्त्रवाद का प्रचार-प्रसार एवं प्रभाव उत्तर भारत में था। जिसमें उत्तर-पश्चिमी भारत का क्षेत्र, पंजाब, सिन्ध, उत्तर में कश्मीर, हिमाचल प्रदेश, उत्तर प्रदेश तथा नेपाल, उत्तर-पूर्वी क्षेत्र के बिहार, बंगाल, असम एवं उड़ीसा आदि क्षेत्र शामिल है, दक्षिणी एवं पश्चिमी भारत में मध्यप्रदेश, विन्ध्यपर्वत, राजस्थान, गुजरात तथा महाराष्ट्र आदि शामिल हैं। प्रस्तुत लधु शोध-प्रबन्ध को अर्थपूर्ण बनाने के लिए हमने भारत के दूसरे क्षेत्रों के साथ-साथ विदेशी क्षेत्रों का भी इसमें उल्लेख किया है।

तन्त्र का अर्थ

तन्त्र शब्द छठी-सातवीं सदी में ही नहीं आया बल्कि इसका उल्लेख वैदिक काल से ही होने लगता है। *ऋग्वेद*[2] में तन्त्र शब्द आया है और इसका उल्लेख वहां करघा के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। *अथर्ववेद*[3] एवं *तैत्तीरीय ब्राह्मण*[4] ने इसी अर्थ में तन्त्र शब्द का प्रयोग किया है।

पाणिनि ने *अष्टाध्यायी* में 'तन्त्रक' (वह वस्त्र जो अभी-अभी करघे से उतारा गया हो) शब्द तन्त्र से निष्पन्न माना है।[5] आपस्तम्ब श्रोत सूत्र में तन्त्र शब्द ''कई भागों वाली विधि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।''[6] *शांखायन श्रोतसूत्र* में तन्त्र शब्द एक ऐसी विधि के रूप में प्रयुक्त हुआ है जो एक बार हो जाने पर बहुत से अन्य कार्यों में उपयोगी सिद्ध हो।[7] *याज्ञवल्क्य स्मृति*[8] में भी प्रयुक्त तन्त्र शब्द इसी अर्थ में है। कौटिल्य ने अपने *अर्थशास्त्र* के 15वें अधिकरण का नाम तन्त्रयुक्ति रखा जिसका अर्थ है, किसी शास्त्र की व्याख्या नियम, विधि या सिद्धान्त।[9] चरक[10] ने 36 तन्त्रयुक्तियों तथा सुश्रुत[11] ने भी 32 तन्त्रयुक्तियों का उल्लेख किया है। गुप्तकालीन ग्रन्थ अमरकोश के अनुसार तन्त्र शब्द का अर्थ है - प्रमुख विषय या भाग, सिद्धान्त (मत, तत्व, वाद या शास्त्र) करघा (कपड़े बुनने का एक यन्त्र) या सामग्री या उपकरण बताया गया है। शबर ने जैमिनी के भाष्य में कहा है कि जब कोई कार्य या पदार्थ एक बार हो जाता है तो बहुत-सी अन्य बातों या विषयों में उपयोगी होता है उसे तन्त्र कहते हैं।[12] शंकराचार्य ने *वेदान्त भाष्य* में कई स्थानों पर सांख्य सिद्धान्त को सांख्य तन्त्र कहा तथा पूर्वमीमांसा को प्रथम तन्त्र कहा है।[13] *कालिका पुराण* में उशना एवं बृहस्पति के राजनीतिक विषयक ग्रन्थों को तन्त्र कहा गया है और *विष्णुधर्मोत्तर पुराण* को तन्त्र की संज्ञा दी गई है।[14] शक्ताचार्यों ने तन्त्र शब्द की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है। उनके अनुसार तन्त्र वह ज्ञान है जो शून्य जनित बिन्दु से उत्पन्न होकर विस्तार की प्रक्रिया में उपासक या साधक की रक्षा करता है। मध्ययुगीन शक्त आगमों में इसको ओर स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि तन्त्र वह ज्ञान है जो अपने विस्तार रूप में अनेक अर्थों, तत्वों तथा मंत्रों का प्रकटीकरण करता है तथा रक्षा करता है।[15] लगभग छठी सदी ईसवीं की वैष्णव तान्त्रिक रचनाओं में तन्त्र सिद्धान्त चतुर्वर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति करने

एवं क्षेत्रीय भाषा की संख्या बढ़ी। प्रशासनिक एवं धार्मिक केन्द्रों की संख्या बढ़ी, जातियों एवं उपजातियों की संख्या सौ से अधिक हो गई। छोटे-बड़े और काले-गोरे देवी-देवता पाए जाने लगे। जनसमुदाय की आर्थिक दशा संकटपूर्ण रही। इस काल में प्राचीन क्षत्रियों के बदले एक नये राजपूत वर्ग का उदय हुआ। इस काल में राजाओं के बीच हमेशा युद्ध का माहौल बना रहता था। इसी माहौल के कारण बाद में विदेशी शक्तियों ने इसका लाभ उठाया। इन परिवर्तनों के कारण इस काल को सामन्तवाद, नगरों का पतन और उत्थान, नवीन सामाजिक व्यवस्था का काल, क्षेत्रीय भाषा और क्षेत्रीय धर्म का काल, मन्दिरों का युग या राजपूत युग आदि के नाम से भी जाना जाता है।

इन नवीन परिवर्तनों में तन्त्रवाद विशेष रूप से इस समय अवधि में उभरकर सामने आता है, जिसके प्रभाव के कारण इस काल को भारतीय संस्कृति में संभवतः तान्त्रिक काल भी माना जाता है।[1] क्योंकि इस समय तान्त्रिक साधनाओं का इतने व्यापक रूप से प्रादुर्भाव हुआ कि सभी सम्प्रदाय चाहे वो वैदिक हो या अवैदिक, चाहे वे वैष्णव हो या शैव, बौद्ध हो या जैन, सभी तान्त्रिक सृष्टि तत्व, तान्त्रिक देवमंडल, तान्त्रिक मन्त्र, साधना, तान्त्रिक-आचार-विधान, हठयोगी साधनाओं का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से प्रश्रय देने लगते हैं। इसी कारण इस समस्त काल को ही विद्वानों ने तान्त्रिक काल के नाम से अभिहित किया है।

प्रस्तुत लघु-शोध प्रबन्ध में हमने अपने अध्ययन का क्षेत्र उत्तर भारत चुना है, क्योंकि हमें पुराणों तथा अन्य स्त्रोतों में जिस धार्मिक भूगोल की जानकारी मिलती है, उससे मालूम होता है कि तन्त्रवाद का प्रचार-प्रसार एवं प्रभाव उत्तर भारत में था। जिसमें उत्तर-पश्चिमी भारत का क्षेत्र, पंजाब, सिन्ध, उत्तर में कश्मीर, हिमाचल प्रदेश, उत्तर प्रदेश तथा नेपाल, उत्तर-पूर्वी क्षेत्र के बिहार, बंगाल, असम एवं उड़ीसा आदि क्षेत्र शामिल है, दक्षिणी एवं पश्चिमी भारत में मध्यप्रदेश, विन्ध्यपर्वत, राजस्थान, गुजरात तथा महाराष्ट्र आदि शामिल हैं। प्रस्तुत लधु शोध-प्रबन्ध को अर्थपूर्ण बनाने के लिए हमने भारत के दूसरे क्षेत्रों के साथ-साथ विदेशी क्षेत्रों का भी इसमें उल्लेख किया है।

तन्त्र का अर्थ

तन्त्र शब्द छठी-सातवीं सदी में ही नहीं आया बल्कि इसका उल्लेख वैदिक काल से ही होने लगता है। *ऋग्वेद*[2] में तन्त्र शब्द आया है और इसका उल्लेख वहां करघा के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। *अथर्ववेद*[3] एवं *तैत्तीरीय ब्राह्मण*[4] ने इसी अर्थ में तन्त्र शब्द का प्रयोग किया है।

पाणिनि ने *अष्टाध्यायी* में 'तन्त्रक' (वह वस्त्र जो अभी-अभी करघे से उतारा गया हो) शब्द तन्त्र से निष्पन्न माना है।[5] आपस्तम्ब श्रोत सूत्र में तन्त्र शब्द "कई भागों वाली विधि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।"[6] *शांखायन श्रोतसूत्र* में तन्त्र शब्द एक ऐसी विधि के रूप में प्रयुक्त हुआ है जो एक बार हो जाने पर बहुत से अन्य कार्यों में उपयोगी सिद्ध हो।[7] *याज्ञवल्क्य स्मृति*[8] में भी प्रयुक्त तन्त्र शब्द इसी अर्थ में है। कौटिल्य ने अपने *अर्थशास्त्र* के 15वें अधिकरण का नाम तन्त्रयुक्ति रखा जिसका अर्थ है, किसी शास्त्र की व्याख्या नियम, विधि या सिद्धान्त।[9] चरक[10] ने 36 तन्त्रयुक्तियों तथा सुश्रुत[11] ने भी 32 तन्त्रयुक्तियों का उल्लेख किया है। गुप्तकालीन ग्रन्थ अमरकोश के अनुसार तन्त्र शब्द का अर्थ है - प्रमुख विषय या भाग, सिद्धान्त (मत, तत्व, वाद या शास्त्र) करघा (कपड़े बुनने का एक यन्त्र) या सामग्री या उपकरण बताया गया है। शबर ने जैमिनी के भाष्य में कहा है कि जब कोई कार्य या पदार्थ एक बार हो जाता है तो बहुत-सी अन्य बातों या विषयों में उपयोगी होता है उसे तन्त्र कहते हैं।[12] शंकराचार्य ने *वेदान्त भाष्य* में कई स्थानों पर सांख्य सिद्धान्त को सांख्य तन्त्र कहा तथा पूर्वमीमांसा को प्रथम तन्त्र कहा है।[13] *कालिका पुराण* में उशना एवं बृहस्पति के राजनीतिक विषयक ग्रन्थों को तन्त्र कहा गया है और *विष्णुधर्मोत्तर पुराण* को तन्त्र की संज्ञा दी गई है।[14] शक्ताचार्यों ने तन्त्र शब्द की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है। उनके अनुसार तन्त्र वह ज्ञान है जो शून्य जनित बिन्दु से उत्पन्न होकर विस्तार की प्रक्रिया में उपासक या साधक की रक्षा करता है। मध्ययुगीन शक्त आगमों में इसको ओर स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि तन्त्र वह ज्ञान है जो अपने विस्तार रूप में अनेक अर्थों, तत्वों तथा मंत्रों का प्रकटीकरण करता है तथा रक्षा करता है।[15] लगभग छठी सदी ईसवीं की वैष्णव तान्त्रिक रचनाओं में तन्त्र सिद्धान्त चतुर्वर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति करने

वाला बताया गया है।[16] इसी प्रकार 11वीं शताब्दी के अरब यात्री अलबेरूनी तन्त्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि "जो पुस्तकें या विचार, सिद्धान्त के आदर्श तक नहीं पहुँचती वे प्रायः तन्त्र या कर्णों कहलाती है। तन्त्र का अर्थ अधिपति के नीचे शासन करता हुआ और करणों का अर्थ पीछे चलता हुआ अर्थात् सिद्धान्तों के पीछे चलता हुआ।"[17] इस प्रकार इन सभी साहित्यिक ग्रन्थों में तन्त्र की उत्पत्ति सिद्धान्त के रूप में मौर्यकाल में पहली बार हुई, जिसमें कहीं भी तन्त्र का मध्यकालीन विलक्षण अर्थ नहीं पाया जाता।

हिन्दी विश्व कोश के अनुसार, तन्त्र का अर्थ वेदों की एक शाखा, सिद्धान्त, मीमांसा, विचार, दृढ़ प्रमाण, पक्का सबूत, परिच्छेद वस्त्र कपड़ा, ओषद, दवा, झाड़न, फूंकने वाला मन्त्र, प्रधान कार्य या उपाय आदि लिया गया है।[18] मानक विशाल हिन्दी शब्दकोश के अनुसार तन्त्र का अर्थ डेरा, सूत, तंतु, तांत, राज्यतन्त्र, परिवार का भरण-पोषण, नीति का एक अंग, करघा, अधीनता, विज्ञान संबंधी सिद्धान्त, रचना या नियम, शिव-शक्ति की पूजा ओर अभिचार आदि का विधान करने वाला शास्त्र, वीणा का तार तथा झाड़-फूंक, टोना आदि लिया गया है।[19] हिन्दू धर्मकोश में तन्त्रशास्त्र को शिव प्रणीत कहा गया है, यह तीन भागों में विभक्त है, आगम, यामल एवं मुख्य तन्त्र। *वाराही तन्त्र* के अनुसार जिसमें सृष्टि, प्रलय, देवताओं की पूजा, सत्यकर्मों के साधन, पुरश्चरण, षटकर्मसाधना और चार प्रकार के ध्यान योग का वर्णन हो उसे आगम कहते हैं। जिसमें सृष्टितत्व, ज्योतिष, नित्य कृत्य, क्रम, सूत्र, वर्णभेद और युगधर्म का वर्णन हो उसे यामल करते हैं। जिसमें यामल, सृष्टि, लय, मन्त्र, निर्णय, तीर्थ, आश्रमधर्म, कल्प, ज्योतिष संस्थान, व्रतकथा, शौच-अशौच, स्त्री-पुरूष लक्षण, राजधर्म, दानधर्म, युगधर्म, व्यवहार तथा आध्यात्मिक नियमों का वर्णन हो वह मुख्यतन्त्र कहलाता है।[20] इनसाइक्लोपीडिया ऑफ हिंदूज्म के अनुसार - "*Tantra* is one of the important branches of Hindu Philosophy and religion. The word tantra has more then twenty five meaning. It derived from the root 'tan' meaning to extend or to spread out and is usually applied to the development of man's power, both meterial and spiritual."[21] इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रीलीजिन एंड एथिक्स के अनुसार - "In the

series of sacred book of the Hindus the *Tantras* occupy the fifth or sixth place. According to their character and contents they are forth in the order of inspiration and authority the degrees being *Sruti, Smrti, Puranik* and *Tantrik*. They are also as a fifth *veda* by those who regard them as authoritative and observe the ritual which they enjoin. In neither case is the series entirely chronological or consecutive. The *Tantres*, which succeed and are in part dependent on the *purans*, are also in part unrelated to the latter and greater antiquity.''[22]

तन्त्र एक संस्कृत भाषा का शब्द है जिसकी व्युत्पत्ति तन धातु से हुई है, जिसका अर्थ है विस्तार ''तन्यते विस्तारयते ज्ञानम् अनने इति तन्त्रम्' अर्थात् वह ज्ञान को जो विस्तार प्रदान करता है, उसका सांगोपांग (पूर्ण) विवरण देता है, उसे तन्त्र कहते हैं। इसी के अनुरुप हमें न्यायतन्त्र, चिकित्सातन्त्र आदि शब्द मिलते हैं।[23]

जे० वुडरफ ने तन्त्र की व्याख्या करते हुए कहा है कि तत्व-मन्त्रों से समन्वित जो विपुल अर्थों का विस्तार है और त्राण भी करता है, उसे तन्त्र कहते हैं।[24] जबकि बी० भट्टाचार्य तन्त्र शब्द की एक संस्था के रूप में व्याख्या करते हुए कहते हैं कि धर्म साधनाओं में जिन नई पूजाओं, मन्त्र पद्धतियों, देवी-देवताओं, अनुष्ठानों, यन्त्रों, योग साधनाओं का प्रवेश हो रहा था। उन्हें पूर्ण रूप से एक चिन्तन पद्धति के अन्दर समन्वित कर देने वाली प्रणाली का नाम तन्त्र पड़ गया।[25] पी०वी० काणे के अनुसार, ''तंत्र शब्द बहुधा तन (फैलाना, तानना) त्र (बचाना) धातुओं से निष्पन्न माना जाता है। यह बहुत से विषयों को जिनमें तत्व एवं मन्त्र भी सम्मिलित हैं, विस्तारित करता है और रक्षण देता है, उसे तन्त्र कहते हैं।[26] देवदत शास्त्री के अनुसार ''तन्त्र एक गुप्त विद्या है, जो पुस्तकें पढ़कर नहीं आचार्यों और गुरूओं के समीप जाने पर प्राप्त होती है।''[27] लल्लन प्रसाद के अनुसार, ''Tantra is that it is a spiritual cult which liberates from the bondage of crudenes and ignorance. The word 'Ta' is the 'bija-Mantra' (acustic root) of crudeness. Tantra is a process of sâdhana which relieves one from the fetters of crudeness.''[28] अनुपमा गर्ग के अनुसार तन्त्र साधना जिंदगी

की समझ बेहतर करने का एक तरीका है। यह जीवन की समस्याओं को समझने की एक पद्धति है। उससे जूझने का एक तरीका है और सबसे बड़ी बात खुद के भीतर उतरने की एक अध्यात्मिक प्रक्रिया है।[29] आर०एस० शर्मा के अनुसार, ''लोगों के लिए तन्त्र शब्द का अर्थ पंचकार है अर्थात् मत्स्य, मांस, मद्य मैथुन एवं मुद्रा की सिद्धि के नाम पर भोग विलास का जीवन बिताने के लिए अनुष्ठानों का संपादन मानते हैं।[30] किन्तु पूर्व-मध्यकाल में रचित आरम्भिक तान्त्रिक साहित्य तथा प्रतिमाओं एवं उपर्युक्त अर्थों को ध्यान में रखते हुए कह सकते हैं कि तन्त्र सम्प्रदाय में अन्य अनेक तत्वों का समावेश भी था। इसमे मातृदेवी की पूजा को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया था। यद्यपि तंत्र साधना मुख्य रूप से शाक्त संप्रदाय से संबंधित है लेकिन इसमें दूसरे मतों जैसे शैव, वैष्णव जैन तथा बौद्ध सम्प्रदायों के तत्व स्पष्ट रूप सें दिखाई देते हैं। तन्त्र सम्प्रदाय में सामान्यत: स्त्रियों एवं शूद्रों को दीक्षा देने की व्यवस्था उपलब्ध थी। तन्त्र में वर्णगत भेद-भाव नहीं बरता जाता था। शूद्र आचार्य शूद्रों के अतिरिक्त चंडालों को भी दीक्षा दे सकते थे और कुछ यज्ञ भी संपादित कर सकते थे।

तन्त्रों में सामान्य रोगों के अलावा सांप, चूहे और विषैले कीड़ों के काटने तथा भूत-प्रेत बाधाओं के निवारण के लिए अनेक अनुष्ठानों तथा उपचारों का विधान किया गया। रोगोपचारों के अलावा उन्होंने कीड़ों से अनाजों की रक्षा के उपाय भी बताए। ऐसा माना जाता था कि अनुष्ठानों तथा तन्त्र-मन्त्र से विष, ग्रहों तथा रोगों के कुप्रभावों का निवारण होता है। औषधियाँ मंत्रोच्चार के साथ दी जाती थी।

मध्यकालीन तान्त्रिक वैध तथा ज्योतिषी का भी काम करते थे। मिथिला तथा नेपाल में वे आज भी यह भूमिका निभा रहे हैं, इन क्षेत्रों में तान्त्रिक भविष्यवाणी करते हैं और ग्रहणों तथा त्योहारों की तिथियाँ बताते हैं। वैद्यों तथा ज्योतिषियों के रूप में तान्त्रिक आम आदमी की सामाजिक एवं भावात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। इस प्रकार वे विभिन्न आर्थिक एवं साम्प्रदायिक समूहों के लोगों के बीच आपसी लगाव पैदा करने में सहायता देते थे।

तन्त्र संप्रदाय में मुक्ति तथा मुक्ति की प्राप्ति एवं लोगों की तरह-तरह की भौतिक कामनाओं की पूर्ति के निमित्त अनेक गुह्य अनुष्ठानों का विधान किया

गया। इसमें भक्ति भावना को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। जहाँ भक्ति का अर्थ था आराध्य देव तथा गुरू के प्रति संपूर्ण समर्पण। इन दोनों को तरह-तरह के भेंट-चढ़ावे अर्पित किए जाते थे। इन सबके कारण लगभग सभी मध्यकालीन संप्रदायों में नए-नए देवी-देवताओं के लिए स्थान बनाने पड़े। इन संप्रदायों में अनेक लोक-पूजित देवी-देवताओं का समाहार किया गया। तान्त्रिक संगठनों ने गुरु को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया। विशाल तंत्र साहित्य में विभिन्न तान्त्रिक धाराओं तथा विविध धर्माचरणों को स्थायी और सुविन्यस्त रूप दिया गया। इस काल में तान्त्रिक राजनीतिक क्षेत्र में भी राजाओं की सहायता करने लगे। वे अपनी विजय के लिए, शान्ति के लिए, राजगद्दी प्राप्त करने आदि के लिए इनका सहयोग लेते थे। क्योंकि तान्त्रिक राजाओं को विभिन्न अनुष्ठानों के द्वारा शक्ति प्रदान करने का दावा करते थे। इस प्रकार व्यवहारत: तंत्र संप्रदाय हिंदू धर्म के समान ही था। उनकी दृष्टि सर्वथा संप्रदाय-निरपेक्ष एवं भौतिकवादी थी। विभिन्न वर्गों के जीवन के जितना निकट तंत्र संप्रदाय था उतना अन्य कोई संप्रदाय नहीं था। क्योंकि यह जिन्दगी की समझ बेहतर करने तथा समस्याओं को समझने की पद्धति और उससे जूझने का एक तरीका था। इस प्रकार तंत्र पूर्व-मध्यकाल में एक संस्था के रूप में उभरा। इसने विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों को ही प्रभावित नहीं किया बल्कि कला, साहित्य, राजनीति शास्त्र, ज्योतिष विज्ञान, शकुन विचार, चिकित्सा शास्त्र तथा सामाजिक, आर्थिक जीवन आदि को भी प्रभावित किया।

प्रस्तुत लघु-शोध प्रबन्ध को लिखने के लिए जरूरी है कि इस पर कोई स्त्रोत उपलब्ध हो। पृथ्वी पर मानव जीवन को समझने के लिए अतीत का अध्ययन अति आवश्यक है, इस अतीत को समझने के लिए किसी न किसी रूप में इतिहास के स्त्रोत मिलते हैं। इस समय सर्वाधिक महत्वपूर्ण पुरातात्विक स्त्रोत के माध्यम से इस युग को समझा गया। इसमें प्रस्तर, औजार, मृदभाण्ड शिलालेख एवं सिक्के विशेष रूप से सम्मिलित है। पूर्व-मध्यकालीन इतिहास को समझने के लिए पुरातात्विक स्त्रोतों के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के अन्य स्त्रोत भी अपना महत्व रखते हैं। इसमें विभिन्न प्रकार के साहित्य स्त्रोत एवं विदेशी यात्रियों के यात्रा वृतांत सम्मिलित है।

इन स्त्रोतों के साथ-साथ इस काल में तन्त्र सम्प्रदाय का भी अपना पृथक साहित्य था। सातंवी से नौंवी सदी के हस्तलिखित तन्त्र ग्रन्थ नेपाल दरबार लाइब्रेरी में उपलब्ध है। कम्बोड़िया के एक अभिलेख से सूचित होता है कि नौवीं सदी में भारत के तन्त्र ग्रन्थों को वहाँ ले जाया गया। किन्तु तन्त्र शब्द का उल्लेख वैदिक काल से ही मिलना शुरू हो जाता है जिसका उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं। लेकिन सातवीं शताब्दी में ही आकर तन्त्र-ग्रन्थों का संकलन शुरू हो सका। इस काल के तन्त्र ग्रन्थों को हम सुविधा के हिसाब से दो भागों में बांट सकते हैं - हिन्दू तन्त्र ग्रन्थ तथा बौद्ध तन्त्र ग्रन्थ।

हिन्दू तन्त्र ग्रन्थों में *कुलार्णव, तन्त्रसार, नित्योत्सव परशुराम कल्पसूत्र, पारानन्दसूत्र, प्रपञ्चसार,* महीधर कृत *मन्त्रमहोदाधि, महानिवार्णतन्त्र, रूद्रयामल, वामकेश्वतन्त्र, शारदातिलक* (11वीं शताब्दी)। इसके अतिरिक्त अभिनवगुप्त कृत *तन्त्रलोक* एवं *मालिनी विजयवार्तिक* आदि ग्रन्थों से तन्त्रों के स्वरूप व विकास के बारे में विस्तृत जानकारी मिलती है।

प्रकाशित बौद्ध तन्त्र में *अद्वयवज्रसंग्रह, आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प, गुह्यसमाजतन्त्र* (लगभग छठी शताब्दी) इन्द्रभूति (727 ई० सन्) की *ज्ञानसिद्धि,* अभयाकर गुप्त की *निष्पन्नयोगावलि* (11वीं व 12वीं सदी में प्रणीत) अनंगवज्र (705 ई० सन्) की *प्रज्ञोपाय विनिश्चय सिद्धि, ष्टाट्चकनिरूपण* (1577 ई० सन्) *साधनमाला* जिसमें तीसरी शदी से 12वीं शदी तक के छोटे-छोटे 312 ग्रन्थों का संग्रह हैं। उपुर्यक्त ग्रन्थ आर्थर एलोन द्वारा एवं गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज द्वारा प्रकाशित है। बौद्ध तन्त्रों में हमें बहुत सारी जानकारियाँ मिलती है, जिसमें बुद्धत्व प्राप्ति के लिए योग क्रियाओं द्वारा सरल मार्ग का अनुसरण तथा सिद्धियों की प्राप्ति के बारे में विस्तृत जानकारी मिलती है। इन ग्रन्थों के आधार पर हम इसके उद्भव व विकास के बारे में जान सकते हैं तथा इसके स्वरूप को समझ सकते हैं।

इसके अतिरिक्त हमें कुछ अन्य तन्त्र ग्रन्थों की जानकारी मिलती है। *कुब्जिकातंत्र* हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार इसकी नकल छठी सातवीं सदी में तैयार की गई।[31] इसमें पांच तान्त्रिक पीठों की जानकारी मिलती है, *हेवज्रतन्त्र* में भी तान्त्रिक पीठों का उल्लेख है[32] जो कि आठवीं सदी की रचना है। इसके

साथ-साथ हमें कुछ तान्त्रिक ग्रन्थ अलग-अलग जनजातियों से संबंद्ध दिखाई देते हैं। *मातंगपरमेश्वरी* तन्त्र के संबंध में ऐसा ही मालूम होता है। इसकी रचना मध्यप्रदेश तथा आंध-प्रदेश में रहने वाली मातंगी की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए की गई।[33] कुछ तन्त्र ग्रन्थों की रचना आम बोलियों में हुई जिनमें *खना, ड़ाक, घाघ, भदरी* आदि ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।[34] इन तन्त्र ग्रन्थों का संशोधन 18वीं शताब्दी तक होता रहा। *भविष्यपुराण* में भविष्यवाणी की गई है कि भारत पर रानी विक्टोरिया का शासन होगा। इसी प्रकार बंगाल में रचित *मेरूतन्त्र* में लन्दन से अंग्रेजों के आने की बात कही गई है।

उपर्युक्त प्राथमिक स्त्रोतों के अलावा, हमें द्वितीयक स्त्रोत भी मिलते हैं, जिनमें हरप्रसाद शास्त्री की *'ए कैटलाग ऑफ पाम-लिम-एड सलेक्टेड पेपर मैन्युस्क्रिप्टस बिलांगिंग टु दा दरबार लाइब्रेरी,* नेपाल (कलकत्ता, 1905) से हमें तन्त्र के उद्भव के विषय में जानकारी मिलती है। जिस पर बी० भट्टाचार्य ने अपनी पुस्तक *बुद्धिस्ट ,सोटेरिज्म* में अपनी सम्मत्ति दी है।

इस विशय पर लिखने वालों में पी०सी० बागची व पी०वी० काणे का नाम उल्लेखनीय है। *स्टडीज इन दि तन्त्रज* तथा *हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र* में तान्त्रिक प्रवृत्तियों का विस्तार से वर्णन किया है, जिससे इसके उद्भव व विकास को समझने में कुछ मदद मिलती है। इसके अलावा मेक्स वेबर, विन्तरनित्ज तथा आर०एस० शर्मा के कुछ शोध-पत्र से भी हमें बहुत सहायता मिलती है। अत: पूर्व-मध्यकालीन उत्तर भारत में तान्त्रिक जीवन पद्धति के धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक पक्षों को कुछ विस्तार से अध्ययन के उद्देश्य से प्रस्तुत लघु शोध प्रबन्ध के लिए इस विषय ''पूर्व-मध्यकालीन उत्तर भारत में तान्त्रिक जीवन पद्धति एक ऐतिहासिक अध्ययन (700 ई० सन् से 1200 ई० सन्) का चुनाव किया गया है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय संस्कृति का विचार करने पर प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में ही वैदिक तथा तान्त्रिक साधनाओं-धाराओं में परस्पर घनिष्ठ संबंध रहा है और ऐसा प्रतीत होता है कि तान्त्रिक पद्धति का विकास

कई अवस्थाओं में हुआ और जिसका मूल प्राचीन मातृदेवी तथा दूसरे विषयों धर्म, दर्शन, अन्धविश्वासमय सिद्धान्त, क्रियाओं, रीतियों औषधि, शकुन विचारों आदि से कहीं जुड़ा हुआ है, जो आगे चलकर तन्त्रवाद के अन्तर्गत इन क्रियाओं का समुचित रूप से विकास हुआ।

तान्त्रिक क्रियाएँ सैंधव सभ्यता एवं वैदिक युग से ही भारतीय चरित्र की ही अनूठी विशेषता नहीं थी, बल्कि प्राचीन और मध्यकालीन सभी समाजों में व्यापक रूप से प्रचलित थी। बेबिलोन में भी ऐसे अनेक रिवाज थे। चीन में भविष्य-सूचक हड्डियों के पढ़ने का रिवाज सुविदित है। सैंधव सभ्यता के पुरातात्विक उत्खन्नों में मातृदेवी की मूर्तियाँ बड़ी संख्या में मिली है, जिससे स्पष्ट होता है कि सैंधव सभ्यता में नारी को शक्ति रूप में पूजा जाता था।[35]

वैदिक युग में तन्त्र शब्द का अर्थ केवल करघे के लिए प्रयुक्त हुआ है, लेकिन ऋग्वेद[36] के दशम् मण्डल में एक सूक्त शक्ति की उपासना से विवृत है। जिसमें लगभग 11 बार शक्ति (शची) शब्द का प्रयोग हुआ है और हर बार वह इन्द्र से संबंध है। पहले शची केवल इन्द्र की शक्ति थी। बाद में उसको नारी रूप में माना गया और उसे पत्नी पद इन्द्राणी दिया गया। ऋग्वेद में ही शची को प्रज्ञा भी कहा गया है। यह 'ज्ञ' देवियों का वाचक है और बाद में वह वाक् का यथार्थ हो गया। इसमें कहा गया है कि इसी 'ज्ञ' से समस्त मन्त्र बने और उनके छन्द प्रकट हुए। इसी कारण आर०जी० भण्डारकर ने इसे तान्त्रिक सूक्त कहा है।[37] अथर्ववेद जो विषय वस्तु की दृष्टि से आर्येतर ग्रन्थ माना जाता है, में अनिष्टों और रोगों के निवारण के लिए अनेक तान्त्रिक विधियों एवं अनुष्ठानों का उल्लेख हुआ है। लेकिन भाग्य व भाग्यवाद (तन्त्रवाद की एक शाखा) में आस्था को ब्राह्मणों ने नहीं बल्कि छठी शताब्दी ई०पू० में आजीविकों जैसे वेद विरोधी पंथों ने इसे प्रोत्साहन दिया। इन पंथों ने भविष्यवाणी करने के कुछ तरीकों को निकाला और प्रसार किया।[38]

मौर्यकाल के पूर्व शायद ही यह भारत में सार्वजनिक हो पाई थी। क्योंकि कौटिल्य को इसमें संदेह मालूम पड़ता था। कौटिल्य का कथन है धन का सितारा धन होता है। काम नहीं करने वाले व्यक्ति को सितारों से सहायता नहीं मिलती। स्पष्टत: सितारों की गति के आधार पर की हुई भविष्यवाणियों में

उनका विश्वास नहीं था। कौटिल्य के *अर्थशास्त्र* में दुर्ग निर्माण के संदर्भ में देवी (शक्ति) पूजा का उल्लेख है कि नगर के बीच में अपराजिता, श्री एवं मदिरा देवी की अन्य पुरुष देवता के साथ प्रतिष्ठा करनी चाहिए।[39] देवी अपराजिता का नाम परिवर्ती तान्त्रिक साहित्य में भी मिलता है। *अर्थशास्त्र* इस बात का भी संकेत देता है कि यंत्रों से विशेष प्रकार की इष्टसिद्धि के लिए हवन, जप के माध्यम से प्रयोग किये जाते थे। अर्थशास्त्र जनता को ठगने वाले कापटिक सिद्धों का उल्लेख करता है। इसी काल में पहली बार मातृदेवी की मृण्मूर्तियाँ मिलती है। जिससे सिद्ध होता है कि इस काल में मातृदेवी को शक्ति के रूप में पूजा जाने लगा।

शुंगकालीन मातृदेवी मौर्यकालीन मूर्तियों की अपेक्षा विकसित एवं कलापूर्ण है।[40] इस काल की प्रस्तर तथा मिट्टी की नारी मूर्तियों में वक्षस्थल प्राय: नग्न दिखाया गया है तथा कभी-कभी बच्चे को स्तन से दुध पीते अंकित किया गया है।[41] सांची स्तूप की वेदिकाओं पर भी श्रीलक्ष्मी के दर्शन होते हैं। यहाँ कमलों से भरे पूर्ण घट पर लक्ष्मी का आसन बताया गया है। फूशे ने इसे मायादेवी माना है, किन्तु उसका श्री लक्ष्मी या सिरिमा होना अधिक संभव लगता है।[42] इस तरह शुंग काल में मातृमण्डलों या अर्चना यंत्रों में भी शक्ति देवी का अंकन देखते हैं। कई बार उनके बीचोंबीच एक बड़ा सा छेद भी रहता है। इनके एक ओर बड़ी सूक्ष्म एवं परिष्कृत शैली में लताप्रतानों, फुल्लों, पशु-पक्षियों तथा मातृदेवी की आकृतियाँ उत्कीर्ण की गयी हैं। कालक्रम की दृष्टि से इस प्रकार के मण्डल लगभग दूसरी शदी ईसा पूर्व के कहे जा सकते हैं। ये उत्तर भारत में पटना, वैशाली, कौशाम्बी, मथुरा, रोपड़ आदि स्थलों से प्राप्त हुए हैं।

कुषाण-सातवाहन काल तक आते-आते श्री लक्ष्मी (शक्ति देवी) की पूजा का बहुत अधिक प्रचार एवं प्रसार हो गया था। उसे बौद्ध स्तूपों की वेदिकाओं में तथा अन्यत्र, महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। भरहुत स्तूप की वेदिका में उसे सिरीमा अर्थात् वैदिक श्रीमा बताया गया है। मोतीचन्द्र के अनुसार ''श्रीलक्ष्मी को यक्षी, पृथ्वी, उमा, दुर्गा का सम्मिलित स्वरूप माना जा सकता है। कनिष्क के समय लिखी जाने वाली रचनाओं में तन्त्रयुक्तियों का उल्लेख हुआ है, जिसका अर्थ है, किसी शास्त्र की व्याख्या, नियम, विधि का सिद्धांत।''[43]

पुरातात्विक साक्ष्यों को ध्यान में रखकर यह कहा जा सकता है कि गुप्तकाल में तन्त्रों की परपम्परा पूर्णत: प्रतिष्ठित हो चुकी थी क्योंकि 423-24 ई० सन् का गंगधार (राजस्थान) अभिलेख तन्त्र शब्द के साथ तंत्राचार का उल्लेख करता है। इस लेख से ज्ञात होता है कि मयूराक्षक ने मातृकाओं के इस मन्दिर को उग्रपीठ के रूप में बनावाया था और यह ''अदृश्य डाकिनी'' आदि शक्तियों से घिरा या रक्षित था। तंत्राचार द्वारा दी गयी मांसादि की बलि को ग्रहण करने की स्वीकृति, ये सभी शक्तियाँ समुद्र को उद्वेलित करने वाली प्रबल वायु झकोरों के माध्यम से देती थी। सम्भवत: यह उग्र मन्दिर किसी श्मशान भूमि में बनाया गया था। कालिदास के साहित्य में कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग है जिसे हम तन्त्र से जोड़ कर देख सकते हैं, यथा - ब्रह्मा के विपरीत वाक् एवं अर्थ की तरह संयुक्त विश्व के परम माता-पिता शिव तथा पार्वती (रघुवंश) तथा कपालाभरण युक्त काली (कुमारसम्भव) इत्यादि शब्द ऐसे हैं, जिससे लगता है कि पाशुपत होने पर भी उनका तंत्रों के रहस्यों से कुछ परिचय था।

लोगों के मानसिक जीवन में तान्त्रिक विचार गुप्तोतर काल में महत्वपूर्ण घटक के रूप में उभरा। स्मृतिकार याज्ञवल्क्य ने राजाओं के उत्थान और पतन को ग्रहों के साथ संबंध कर उसकी पूजा की अनुशंसा की है। इसी प्रकार हम देखते हैं कि दूसरी सदी ई०पू० में जब कौटिल्य जैसे प्रबुद्ध लोग नक्षत्र-विचारों की उपयोगिता में संदेह करते थे लेकिन अब इस काल में ऐसे विचारों (तन्त्रिक) के अध्ययन को जानबूझकर प्रोत्साहित किया गया।[44] छठी शताब्दी में रचित वराहमिहिर की *वृहत्संहिता* में समाज के विभिन्न वर्गों के अन्दर, कृषक, व्यापारियों, पुरोहितों व राजाओं आदि के भाग्य के ऊपर ग्रहों और नक्षत्रों की स्थितियों और गतियों के प्रभाव का विस्तार से वर्णन किया गया। जिसका प्रभाव यह हुआ कि पूर्व-मध्यकाल तक आते-जाते जनसाधारण की भाषा में 'ग्रह' शब्द संकट और दुर्भाग्य का पर्यायवाची माना जाने लगा है।

इस प्रकार पूर्व-मध्यकाल तक आते-आते तन्त्रवाद एक संस्था के रूप में उभरा जिसमें धर्म, दर्शन, सिद्धान्त, क्रियाओं, रीतियों, ज्योतिष, फलित ज्योतिष, औषधि, शकुनों आदि का समावेश पाया जाता है। कुछ मामलों में यह पुराणों से मिलता-जुलता है इसके साथ-साथ इस सम्प्रदाय ने इस काल के सामाजिक,

राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन को भी प्रभावित किया, लेकिन इसके उद्भव 7वीं सदी में ही क्यों हुआ इस पर विद्वानों में मतभेद हैं।

तन्त्र की उत्पत्ति पर विद्वानों के विचार

यद्यपि तन्त्रवाद के प्रमाण हमें वैदिक काल से ही मिलने शुरू हो जाते हैं लेकिन यह सातवीं शताब्दी में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। फिर भी सातवीं शताब्दी में इनकी शुरूआत के विषय में विद्वान एक मत नहीं है। कुछ विद्वान मानते हैं कि यह किसी विदेशी जाति के साथ आया और कुछ ही सदियों में समस्त देश की धर्म योजनाओं में इतना पैठ गया कि हमारे चिन्तन का रूप ही बदल गया तथा कुछ विद्वान इसकी शुरूआत बौद्ध धर्म से मानते है तो कुछ इसकी उत्पत्ति वैदिक धर्म में तो, कुछ अवैदिक रीति-रिवाजों में खोजते हैं। इस प्रकार हम इसको संक्षेप में जानने का प्रयास करेंगे।

महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री इस बात को मानने में सन्नद्ध थे कि तन्त्र के व्यवहार व सिद्धान्त भारत में बाहर से आए। वे कुब्जि के एक सातवीं सदी के एक श्लोक[45] पर विशेष रूप से निर्भर है जिसका अर्थ है ''सभी स्थानों पर अधिकार करने के लिए भारत वर्ष में जाओ और पीठो, उपपीठों एवं क्षेत्रों में अनेक प्रकार से इसकी सृष्टि करो।'' अर्थार एलोन ने महानिर्वाणतन्त्र[146] में लिखा है कि तन्त्र भारत में शकद्वीप से आया। प्रो० एन०एन० चौधरी[47] ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि भारतीय तन्त्रवाद का मूल तिब्बत के बान धर्म में पाया जाता है। वे इस विषय में तिब्बती परम्परा में विश्वास करते हैं कि असंग ने भारत में तन्त्रवाद चलाया। बागची[48] भी तान्त्रिक सिद्धान्तों में बाह्य तत्वों के समावेश के विषय में कुछ प्रमाण उपस्थित करते हुए कहते हैं कि महाविद्या वशिष्ठ ऋषि के समक्ष प्रकट हुई और बुद्ध को चीन देश में जाने को कहा, बुद्ध ने सिद्धि प्राप्त करने के बाद वशिष्ट को कौल मार्ग एवं योग के प्रयोगों में शिक्षित किया और उन्हें पूर्ण योगी होने की साधना के लिए पंचमकारों के उपयोग का निर्देश दिया।

लेकिन उपर्युक्त वर्णनो से यही स्पष्ट होता है कि 7वीं सदी के आस-पास चीन या तिब्बत में तान्त्रिक प्रयोगों का प्रचलन था, तब भारत में भी पीठ,

उपपीठ थे। *रूद्रयामल*[49] में *अथर्ववेद* की प्रशस्ति आयी है कि उसमें सभी प्राणियों, सभी ऋषियों, कामविद्या एवं महाविद्या का निवास है। श्लोक 10 से 17 में रहस्यमयी कुण्डलिनी का वर्णन है। 31 श्लोकों में योगिक प्रयोगों का 6 श्लोकों में शरीर के चक्रों का उल्लेख है। 51 से 53 तक के श्लोकों में कामरूप, जालन्धर, पूर्णगिरि, उड्डियान एवं कालिका पीठों का वर्णन है, जिससे स्पष्ट होता है कि तान्त्रिक सिद्धान्तों का प्रचलन भारत में वैदिक युग से था।[50]

भट्टाचार्य ने यह स्वीकार किया है कि यद्यपि बौद्ध व जैन धर्म ने आरंभिक काल में हिन्दू देवी का सहारा लिया तब भी उन्होंने कहा कि बिना विरोधाभास के ऐसी घोषणा करना सम्भव है कि बौद्धों ने ही सर्वप्रथम अपने धर्म में तन्त्रवाद का श्रीगणेश किया और हिन्दुओं ने उनसे आगे चलकर उधार लिया।[51]

किन्तु इस मत के विरूद्ध श्री वैल्ली पोरियन[52] विन्तरनिज[53] ने स्पष्ट प्रमाण दिए जिन्हें पी०वी० काणे[54] ने भी स्वीकार किया है, जिसमें कहा गया है कि संस्कृत के सैंकड़ो ग्रन्थ तिब्बती एवं चीनी भाषा में अनुदित हुए। भारत से ही तिब्बतियों एवं चीनियों ने ऋण लिया और आगे कहा गया है कि सन् 67 से 798 ई० सन् तक 24 हिन्दू विद्वान चीन आए। इसके अतिरिक्त कश्मीर में 13 विद्वान आए और 265 ई० सन् से 790 ई० सन् तक जितने चीनी पढ़ने के लिए भारत आये उनकी संख्या 187 थी जिनमें 105 के नामों का पता चलता है।[55] इस विषय में हमें कोई प्रमाण नहीं मिलता कि तिब्बती या चीनी ग्रन्थों का अनुवाद संस्कृत में हुआ।

इसके अतिरिक्त वाटर्स[56] ने अपने लेख में इसे और स्पष्ट किया है कि तीन महान् चीनी यात्रियों ने भारत में बौद्ध तन्त्रों के अध्ययन की कोई चर्चा नहीं की, जब ह्वेसांग अयोध्या से आगे नौका में पूर्व की ओर गंगा में जा रहा था, तब ठगों ने उसे लूट लिया और उनकी बलि देवी दुर्गा को देनी चाही, किन्तु वह उस अन्धड़ से बच गया जिससे ठगों ने डरकर उसे छोड़ दिया और उसका मान-सम्मान किया। इससे यह पता चलता है कि 7वीं सदी के पूर्व तक भारत में तन्त्र एवं शाक्त पूजा प्रचलित थी।

जहाँ तक पुराने तन्त्रों का प्रश्न है उनका आगम नाम यह सूचित करता है

कि यह वैदिक परम्परा के नहीं थे। कालातत्र में आगम की नई व्याख्या खोज ली गई।[57] मध्यकालीन ग्रन्थों से भी ज्ञात होता है कि आरम्भ में इन्हें अवैदिक माना जाता था लेकिन अन्त में जो लोक प्रचलित हो गया उसे ब्राह्मण परम्परा द्वारा ग्रहण कर लिया गया। ऐसे बहुत से नवोदित सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है, जिन्हें रूढ़िवादी चिन्तक वर्ग अवैदिक मानता था। *कूर्मपुराण* में लाकुल, वाम, पांचरात्र, भैरव कापालिक आदि मतों को अवैदिक बताया गया है।[58] इसमें अधिक रोचक अंश यह है कि विष्णु एवम् रूद्र दोनों देवताओं को इन मतों का मूल प्रवर्तक बताया गया है[59] और यह भी कहा जाता है कि इन्होंने इन मतों का प्रचार कुछ ऐसे ब्राह्मणों से कराया जो वेद पढ़ने का अधिकार खो चुके थे।

कुछ विद्वानों में तंत्र संप्रदाय के प्रतीकात्मक तथा दार्शनिक पहलुओं पर जोर देने की प्रवृत्ति दिखाई देती है, जिसका अभिप्राय यह होगा कि यह संप्रदाय सिद्ध-साधकों के संकुचित दायरे तक सीमित था - किन्तु प्रकाशित ग्रंथों की विषयवस्तु से मालूम होता है कि इनके अधिकतर हिस्से का संबंध लोगों के रोजमर्रा के जीवन से जुड़े आचार-व्यवहार से है।

वेबर तन्त्र के उद्भव का कारण ब्राह्मणों के लालच को मानते हैं। उनका मानना है कि दक्षिणा के लाभ में वे अनेक लोकप्रिय देवी-देवताओं की पूजा अर्जना को तैयार हो गए।[60] उनकी राय में ब्राह्मणों ने बौद्धों तथा जैनो के साथ स्पर्धा की भावना से भी प्रेरित होकर ऐसा किया। किन्तु आर०एस० शर्मा कहते हैं कि तन्त्रों के विकास में ब्राह्मणों की ऐसी मंशाओं से प्रेरित होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। किन्तु उन पर कुछ भौतिक लाभों की मंशा आरोपित करने का कुछ तर्क हो सकता है।[61] किन्तु पूर्व-मध्यकाल में जब तक तंत्र संप्रदाय शक्ति के रूप में उभरा तब तक बौद्ध व जैन धर्मों में ब्राह्मणों को चुनौती देने का सामर्थ्य ही नहीं रह गया था।

कर्मकांड़ों और गृह्याचारों के बिना तंत्र संप्रदाय की कल्पना नहीं की जा सकती। विंतरनित्ज तन्त्र का उद्भव मनोलैंगिक कारणों को मानते हैं।[62] उनकी राय में तन्त्रों तथा उनमें वर्णित धर्म की विचित्र विकृतियों का उद्भव आदिवासियों अथवा आर्य आप्रवासियों के बीच प्रचलित लोक मान्यताओं की देन है।[63]

कुछ विद्वानों का मानना है कि इसका उद्भव एवं विकास विशुद्ध रूप से आध्यात्मिक तथा रहस्यवादी कारणों से हुआ। इनमें गुयेन्थर[64] का मानना है कि आठवीं सदी के बौद्ध लेखक, यथा - अनगवज्र एवं इन्द्रभूति आज के चित-विश्लेषकों की भांति मानसिक जीवन की गहराइयों में डूब चुके थे और मानव-मन के रहस्यों को जानते थे।

तन्त्रवाद का विकास

किन्तु यह सब पूर्व-मध्यकाल में ही क्यों हुआ और शाक्त पीठ परिपक्व ब्राह्मणीय क्षेत्रों के बाहर जनजातीय क्षेत्रों में क्यों हुए, यह किसी ने नहीं बताया। आर०एस० शर्मा के अनुसार तन्त्र के उद्भव तथा विकास को समझने के लिए पूर्व-मध्यकाल की आर्थिक एवं सामाजिक प्रवृतियों की भूमिका को समझना आवश्यक है।[65]

बहुत सारे मध्यकालीन तन्त्र साहित्य से भी पता चलता है कि तन्त्र का विकास कामरूप और बंगाल में हुआ। अभिनवगुप्त कृत *तंत्रालोक* के भाष्य में जयरथ (12वीं सदी) ने एक श्लोक का वर्णन किया है, जिसमें कोल तन्त्र की शुरूआत कामरूप से बताई गई है।[66] *महाकौल ज्ञान विनिर्णय* की *पुष्पिका* के अनुसार तन्त्र का जन्म पूर्वी बंगाल के चंद्रद्वीप में हुआ।[67] *महानिर्वाणतन्त्र* का बंगाली उत्पत्ति के सिद्धान्त को इस बात से बल मिलता है कि बंगाल में पाई जाने वाली तीन प्रकार की मछलियों के बलिदान का सुझाव दिया गया है[68] जिससे ऐसा मालूम होता है कि तन्त्र का उद्भव बंगाल में हुआ, लेकिन यह ग्रन्थ अठारहवीं सदी का मालूम होता है।

अन्त में एक सर्वसामान्य महत्त्व के एक अज्ञातमूल श्लोक पर विचार करना समीचीन होगा जिसमें कहा गया है कि तन्त्र ने बंगाल में जन्म लिया। मिथिला में प्रबलता प्राप्त की। महाराष्ट्र में कुछ-कुछ प्रचलित हुआ और गुजरात में उसका अन्त हो गया।[69] तंत्र के गुजरात में अंत होने से स्पष्ट है कि यह श्लोक उत्तर मध्यकालीन है, जिसमें मिथिला को महत्व देकर, दक्षिण भारत में संकलित संपूर्ण तंत्र साहित्य की उपेक्षा की गई है। लेकिन इस श्लोक को लगभग 1000 ई० के आसपास की रचना *पद्म पुराण* के उत्तरखंड के आरंभ

में पाए गए श्लोक से मिलाकर पढ़ा जाए तो यह काफी अर्थपूण हो जाता है। *पद्म पुराण* के एक श्लोक में बताया गया है कि भक्ति मत का जन्म तमिल देश में हुआ, कर्नाटक में विकास हुआ, महाराष्ट्र में कुछ-कुछ ख्याति फैली और गुजरात में अवन्ति को प्राप्ति हुई।[70] यद्यपि भक्ति का जन्म पहले हुआ था, तथापि भक्ति और तन्त्र दोनों ने निम्न वर्णों को विभिन्न देवी देवताओं की पूजा के लिए वैदिक ढंग की दीक्षा की आवश्यकता नहीं थी।[71] पूर्व-मध्यकाल में दक्षिण भारत के 63 शैव भक्तों में से केवल 27 ब्राह्मण या क्षत्रिय हैं जिनमें कुछ सरदार और सिंहासनासीन राजा भी शामिल हैं, किन्तु बाकी के सभी संत या तो वैश्य हैं या शूद्र और इनमें से बड़ी संख्या कर्नाटक के वेल्लालों की है।[72] ये वेल्लाल किसान समुदाय के थे और उन्हें शूद्र की कोटि में रखा जाता था।

नेपाल के दरबार पुस्तकालय में परवर्ती काल की नैवारी लिपि में लिखी हुई सम्मोहन तंत्र नामक पोथी है।[73] इनमें संप्रदायों, सिद्धान्तों, परंपराओं तथा प्रदेशों के अनुसार तन्त्रों का वर्गीकरण किया गया है। इसमें दिए गए क्षेत्रीय विवरण के अनुसार 100 प्रधान तथा 7 गौण तन्त्र चीन में, 20 प्रधान तथा 25 गौण तन्त्र द्रविड़ में, 18 प्रधान तथा 20 गौण तन्त्र जैनों में (जिसमें कर्नाटक, महाराष्ट्र, गुजरात सम्मिलित हैं) 60 प्रधान तथा 500 गौण तंत्र केरल में, 100 प्रधान एवं 10 गौण तंत्र कश्मीर में तथा 27 प्रधान और 16 गौण तन्त्र गौड़ में प्रचलित थे।[74] द्रष्टव्य है कि यद्यपि सबसे अधिक तन्त्रों के मूल चीन में बताए गए हैं किन्तु कामरूप, नेपाल और तिब्बत का कोई उल्लेख नहीं किया गया है, जबकि वहाँ बहुत सारे तांत्रिक ग्रंथ प्राप्त हुए हैं। स्पष्ट है कि इन सभी क्षेत्रों को सम्मोहन तन्त्र ने चीन में शामिल कर लिया।

इस प्रकार प्रारंभिक तान्त्रिक ग्रंथ मुख्य रूप से कश्मीर, नेपाल, बंगाल, असम तथा पश्चिमी और दक्षिण भारत में पाए गए हैं, यद्यपि मिथिला में भी उनकी संख्या अच्छी खासी है। इन क्षेत्रों में प्रारम्भिक तान्त्रिक ग्रन्थों का अधिक संख्या में मिलना दर्शाता है कि ये ग्रन्थ पर्यावरणीय तथा राजनीतिक कारणों से सुरक्षित रहे। लेकिन इन क्षेत्रों में तन्त्रों की रचना पूर्व मध्यकाल से आरम्भ होकर 18वीं सदी तक, बल्कि उसके बाद भी चलती रही। उत्तर मध्यकाल में तन्त्रों के अधिकांश रचयिता बंगाल के थे, कुछ उड़ीसा, कश्मीर,

कुँमाऊ और नेपाल के भी थे लेकिन वाराणसी के तन्त्र सूचनाकार की संख्या बहुत कम थी।[75]

इस प्रकार आर० एस० शर्मा कहते हैं कि यद्यपि ब्राह्मण संस्कृति का केन्द्र आर्यावर्त (मध्यप्रदेश) में था, तथापि इस क्षेत्रों की अपेक्षा सीमावर्ती क्षेत्रों में तन्त्रों के अविशिष्ट रूप दिखाई देते हैं।[76] पश्चिमोत्तर भारत में अधिकतर लोगों के मुसलमान हो जाने के कारण इस क्षेत्र में तान्त्रिक आचारों का महत्व नहीं रह गया, लेकिन उसके पड़ोस में पूर्वी पंजाब तथा उत्तर प्रदेश के हिमालयी क्षेत्रों के बारे में हम ऐसा नहीं कह सकते। सत्रहवीं-अठारहवीं सदियों की उत्तर-मध्यकालीन कृतियों में उल्लेखित 108 पीठों में से जिनकी पहचान की जा सकती है, वे मुख्यत: मध्यदेश के बाहर पड़ते हैं। मिथिला में पाए जाने वाले अवशेषों की वजह, इस क्षेत्र का नेपाल तथा उत्तर बंगाल के नजदीक होना माना जा सकता है।[77] मैथिलि पंडित अपने प्रबल रूढिवादी चरित्र के कारण किसी भी परम्परा को दीर्घकाल तक कायम रखते हैं। इस प्रकार तान्त्रिक ग्रन्थ का तन्त्राचार ठीक उन्हीं क्षेत्रों में शेष रहे गए, जहाँ उनका जन्म हुआ।

इस प्रकार तन्त्रवाद की उत्पत्ति को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखने की जरूरत है। इसमें सीमांतिए क्षेत्रों में ब्राह्मणों को दिए गए भूमिदानों से उन प्रदेशों में ब्राह्मणीय संस्कृति का प्रसार, विभिन्न मातृदेवियों की आदिवासी पृष्ठभूमि एवं तांत्रिक पीठों की पुरातनता और क्षैत्रिय वितरण, शबर व अन्य कबीलों का विभिन्न तन्त्रों से संबंध, तान्त्रिक रचनाओं का काल और मूल स्थान तथा तन्त्र संप्रदाय के वर्तमान अवशेष इन विविध परिप्रेक्ष्यों में इस संप्रदाय के उद्भव की समस्या पर विचार किया जा सकता है। किन्तु चाहे जिस दृष्टि से भी देखें निष्कर्ष यही निकलता है कि इनका जन्म मध्यदेश के बाहर के क्षेत्रों में हुआ।

वर्तमान सर्वेक्षण यह दर्शाते हैं कि कबीलाई क्षेत्रों में ब्राह्मणों को दिए गए भू-अुनदान से इन क्षेत्रों में मातृ पंथ की स्वीकार्यता बढ़ी और तान्त्रिक ग्रन्थों का संकलन हुआ। लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि सभी क्षेत्रों में एक ही प्रकार का तंत्र धर्म देखने को नहीं मिलता। मगध, उड़ीसा, बंगाल, असम और

नेपाल की बौद्ध पृष्ठभूमि के कारण इन प्रदेशों में वज्रयान तन्त्र का उदय हुआ। इस तन्त्र ने नए जनसमूहों को स्थान दिया जिसके कारण श्रेणीबद्ध महायान बौद्ध पंथ में ऐसे परिवर्तन हुए जो स्त्रियों और निम्न वर्ग के हक में थे। मध्यप्रदेश के कुछ भागों में, जहाँ गुप्त और गुप्तोत्तर काल में वैष्णव पुरावशेष तथा मातृदेवी की प्रतिमाएँ पाई गई हैं, जहाँ तन्त्र सम्प्रदाय पांचरात्र के रूप में उदित हुआ और इसने वैष्णव पंथ में मातृदेवी को शामिल करके उसे नई शक्ल दी। जहाँ कश्मीर, मध्यप्रदेश, आन्ध्रप्रदेश तथा तमिलनाडु के अर्द्ध-हिन्दू क्षेत्रों में शैव पंथ तन्त्र संप्रदाय से प्रभावित हुआ, वहीं कर्नाटक, गुजरात तथा महाराष्ट्र में जैन धर्म पर भी इसका प्रभाव पड़ा।[78] छठी सदी तक इनमें किसी भी प्रदेश का पर्याप्त रूप से ब्राह्मणीकरण नहीं हो पाया था। इस प्रकार भूमिदानों तथा जनजातिय क्षेत्रों के ब्राह्मणीकरण के कारण पूर्व मध्यकाल में अंततः तन्त्र धर्म और संप्रदाय का उदय हुआ। तन्त्र सम्प्रदाय मध्यदेश के बाहर की संस्कृति द्वारा अपने वर्चस्व के आग्रह का द्योतक था और ब्राह्मणीय समाज द्वारा उस वर्चस्व की स्वीकृति का प्रतीक था। इस संप्रदाय को ब्राह्मणीय समाज के रूढ़िवादी वर्गों के लिए स्वीकार्य बनाने के निमित्त उसका कोई प्राचीन और प्रतिष्ठित आधार खोजना जरूरी था। इस प्रयत्न का उदाहरण यमुनाचार्य की कृतियों में मिलता है, जिसकी मृत्यु 1000 ई० सन् में हुई। *सात्वत आगम* का वैदिक आधार प्रमाणित करने के लिए उसने *आगम प्रमाण्य* की रचना की और पांचरात्र का वैदिक स्वरूप दर्शाने के लिए *कश्मीरागम प्रमाण्य* का प्रणयन किया। इस प्रकार वैचारिक एकीकरण के प्रयत्न सफल हुए, जिसका प्रमाण यह है कि बहुत से रूढ़िवादी ब्राह्मण भी आज तक तंत्र धर्म का आचरण कर रहे हैं।[79] इस प्रकार तन्त्र के उद्भव, विकास को समझ लेने के पश्चात् हम आगे तान्त्रिक प्रवृतियों व धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन में आए तान्त्रिक आचार-विचारों पर विस्तार से अध्ययन करेंगे।

पाद-टिप्पणी

1. प्रसाद, बेनी, *हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता*, पृ० 150-160
2. *ऋग्वेद*, 10.7.14

3. *अथर्ववेद*, 10.7.42
4. *तैत्तीरीय ब्राह्मण*, 2.5.5.3
5. पाणिनी कृत *अष्टाध्यायी*, 5.2.70
6. *आपस्तम्ब श्रोत सूत्र*, 1.15.1
7. *शांखायन श्रोत सूत्र*, 1.16.3
8. *याज्ञवल्क्य स्मृति*, 1.228
9. कौटिल्य कृत *अर्थशास्त्र*, 4, पृ० 82
10. चरक कृत *चरकसंहिता*, पृ० 40–50
11. सुश्रुत कृत *सुश्रुतसंहिता*, पृ० 65
12. शबर का भाष्य, *जैमिनी*, 11–4–1
13. शंकराचार्य कृत *वेदान्तासूत्र*, 3–3–53
14. *कालिका पुराण*, 87–130
15. उपाध्याय, बलदेव, *भारतीय दर्शन*, पृ० 424
16. *जर्नल ऑफ दि यू०पी० हिस्टारिकल सोसाइटी*–XXII, 1951–52, उद्धृत हयशीर्ष, पृ० 214
17. शर्मा, रजनीकांत, *अलबेरूनी का भारत*, 17वां परिच्छेद, पृ० 122
18. हिन्दी विश्वकोश, पृ० 292
19. मानक विशाल हिन्दी शब्दकोश, पृ० 389
20. हिन्दू धर्मकोश, पृ० 292
21. इनसाइक्लोपीडिया ऑफ हिंदूज्म, भाग–10, पृ० 310
22. इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रीलिजन एंड एथिक्स, भाग–12, पृ० 192–193
23. गुप्ता दास, *फिलॉसाफिकल एसेज*, पृ० 2
24. वुडरफ जे०, *शक्ति और शाक्त*, पृ० 18
25. भट्टाचार्य, बी०, *थ्यूरी एण्ड प्रैक्टिस ऑफ तन्त्राज़*, पृ० 2
26. काणे, पी०वी०, *धर्मशास्त्र का इतिहास*, भाग–5, पृ० 4–5
27. शास्त्री, देवदत, *तन्त्र सिद्धान्त और साधना*, पृ० 106
28. सिंह, लल्लन प्रसाद, *तंत्र – इट्स मिस्टिक एण्ड साइंटिफिक बेसिस*, पृ० 2
29. गर्ग, अनुपमा, *द तांत्रिक कार्स*, भूमिका, पृ० 1–15

30. शर्मा, आर० एस०, *अर्ली मिडिवल इण्डियन सोसायटी ए स्टडी इन फ्यूडेलिज्म*, पृ० 235
31. शास्त्री, हरप्रसाद, *ए कैटलाग ऑफ पाम-लिम्फ एंड सेलेक्टेड पेपर बिलागिंग टु द दरबार लाइब्रेरी नेपाल*, कलकत्ता, पृ० LXXVIII
32. *वही*, पृ० XXX
33. *वही*, पृ० XXX
34. शर्मा, आर०एस०, *प्रारंभिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास*, पृ० 121-126
35. *जर्नल ऑफ रायल सोसायटी ऑफ आर्ट*, पृ० 218
36. *ऋग्वेद*, 10.125
37. भण्डारकर, आर०जी०, *वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत*, पृ० 164
38. बाशम, ए०एल०, *हिस्ट्री एण्ड डॉक्ट्रिन्स ऑफ दि आजीविकाज*, अध्याय - XII, पृ० 230
39. कौटिल्य कृत *अर्थशास्त्र*, पृ० 340
40. शर्मा नीलकमल, *प्राचीन भारत में शक्ति पूजा*, पृ० 275-277, पृ० 123-126
41. *एन्युअल रिपोर्ट ऑफ दी आर्क्योलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया*, 1936-37, फलक 24, 15
42. वासुदेव अग्रवाल, *भारतीय कला*, पृ० 166
43. चरक कृत *चरकसंहिता*, 12/40-45
44. शर्मा, आर०एस०, *पूर्वोक्त*, पृ० 123-126
45. शास्त्री, हरप्रसाद, *पूर्वोक्त*, पृ० 89
46. भट्टाचार्य, बी०, सं० *महानिर्वाणतन्त्र*, तृतीय संस्करण, पृ० 560
47. चौधरी, एन०एन०, *मार्डन रिव्यू*, पृ० 150-156
48. बागची, पी०सी०, *स्टडीज इन तन्त्रज़*, पृ० 45-55
49. *रूद्रयामल*, 17वां पटल श्लोक, सं० भट्टाचार्य, बी० 119-125
50. काणे, पी०वी०, *पूर्वोक्त*, भाग-5, पृ० 6-7
51. भट्टाचार्य, बी०, *बुद्धिस्ट एसोटेरिज्म*, पृ० 147
52. इन्साइक्लोपीडिया ऑफ रीलिजन एण्ड एथिक्स, जिल्द 12, पृ० 193
53. काणे, पी०वी०, *पूर्वोक्त*, खण्ड-5, पृ० 8
54. *वही*, पृ० 89

3. *अथर्ववेद*, 10.7.42
4. *तैत्तीरीय ब्राह्मण*, 2.5.5.3
5. पाणिनी कृत *अष्टाध्यायी*, 5.2.70
6. *आपस्तम्ब श्रोत सूत्र*, 1.15.1
7. *शांखायन श्रोत सूत्र*, 1.16.3
8. *याज्ञवल्क्य स्मृति*, 1.228
9. कौटिल्य कृत *अर्थशास्त्र*, 4, पृ० 82
10. चरक कृत *चरकसंहिता*, पृ० 40–50
11. सुश्रुत कृत *सुश्रुतसंहिता*, पृ० 65
12. शबर का भाष्य, *जैमिनी*, 11–4–1
13. शंकराचार्य कृत *वेदान्तासूत्र*, 3–3–53
14. *कालिका पुराण*, 87–130
15. उपाध्याय, बलदेव, *भारतीय दर्शन*, पृ० 424
16. *जर्नल ऑफ दि यू०पी० हिस्टारिकल सोसाइटी*-XXII, 1951–52, उद्धृत हयशीर्ष, पृ० 214
17. शर्मा, रजनीकांत, *अलबेरूनी का भारत*, 17वां परिच्छेद, पृ० 122
18. हिन्दी विश्वकोश, पृ० 292
19. मानक विशाल हिन्दी शब्दकोश, पृ० 389
20. हिन्दू धर्मकोश, पृ० 292
21. इनसाइक्लोपीडिया ऑफ हिंदूज्म, भाग–10, पृ० 310
22. इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रीलिजन एंड एथिक्स, भाग–12, पृ० 192–193
23. गुप्ता दास, *फिलॉसाफिकल एसेज*, पृ० 2
24. वुडरफ जे०, *शक्ति और शाक्त*, पृ० 18
25. भट्टाचार्य, बी०, *थ्यूरी एण्ड प्रैक्टिस ऑफ तन्त्राज़*, पृ० 2
26. काणे, पी०वी०, *धर्मशास्त्र का इतिहास*, भाग–5, पृ० 4–5
27. शास्त्री, देवदत, *तन्त्र सिद्धान्त और साधना*, पृ० 106
28. सिंह, लल्लन प्रसाद, *तंत्र – इट्स मिस्टिक एण्ड साइंटिफिक बेसिस*, पृ० 2
29. गर्ग, अनुपमा, *द तांत्रिक कार्स*, भूमिका, पृ० 1–15

30. शर्मा, आर० एस०, *अर्ली मिडिवल इण्डियन सोसायटी ए स्टडी इन फ्यूडेलिज्म*, पृ० 235
31. शास्त्री, हरप्रसाद, *ए कैटलाग ऑफ पाम-लिम्फ एंड सेलेक्टेड पेपर बिलागिंग टु द दरबार लाइब्रेरी नेपाल*, कलकत्ता, पृ० LXXVIII
32. *वही*, पृ० XXX
33. *वही*, पृ० XXX
34. शर्मा, आर०एस०, *प्रारंभिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास*, पृ० 121–126
35. *जर्नल ऑफ रायल सोसायटी ऑफ आर्ट*, पृ० 218
36. *ऋग्वेद*, 10.125
37. भण्डारकर, आर०जी०, *वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत*, पृ० 164
38. बाशम, ए०एल०, *हिस्ट्री एण्ड डॉक्ट्रिन्स ऑफ दि आजीविकाज*, अध्याय - XII, पृ० 230
39. कौटिल्य कृत *अर्थशास्त्र*, पृ० 340
40. शर्मा नीलकमल, *प्राचीन भारत में शक्ति पूजा*, पृ० 275–277, पृ० 123–126
41. *एन्युअल रिपोर्ट ऑफ दी आर्क्योलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया*, 1936–37, फलक 24, 15
42. वासुदेव अग्रवाल, *भारतीय कला*, पृ० 166
43. चरक कृत *चरकसंहिता*, 12/40–45
44. शर्मा, आर०एस०, *पूर्वोक्त*, पृ० 123–126
45. शास्त्री, हरप्रसाद, *पूर्वोक्त*, पृ० 89
46. भट्टाचार्य, बी०, सं० *महानिर्वाणतन्त्र*, तृतीय संस्करण, पृ० 560
47. चौधरी, एन०एन०, *मार्डन रिव्यू*, पृ० 150–156
48. बागची, पी०सी०, *स्टडीज इन तन्त्रज़्*, पृ० 45–55
49. *रूद्रयामल*, 17वां पटल श्लोक, सं० भट्टाचार्य, बी० 119–125
50. काणे, पी०वी०, *पूर्वोक्त*, भाग-5, पृ० 6–7
51. भट्टाचार्य, बी०, *बुद्धिस्ट एसोटेरिज्म*, पृ० 147
52. इन्साइक्लोपीडिया ऑफ रीलिजन एण्ड एथिक्स, जिल्द 12, पृ० 193
53. काणे, पी०वी०, *पूर्वोक्त*, खण्ड-5, पृ० 8
54. *वही*, पृ० 89

55. लियांग चाओ ची, *चाइनाज डेट टु इण्डिया*, पृ० 251–266
56. वाटर्स, *ह्यूनसांग ट्रेवेल्स इन इण्डिया*, जिल्द–1, पृ० 360
57. भट्टाचार्य, बी०, सं० *महापरिनिर्वाण तन्त्र*, पृ० 72
58. *कूर्मपुराण*, पृ० 27
59. वही, पृ० 29
60. वेबर, मैक्स, द *रिलीजिन ऑफ इंडिया*, पृ० 50–60
61. शर्मा, आर०एस०, *अर्ली मिडिवल इडिण्यन सोसायटी : ए स्टडी इन फ्यूडेलिज्म*, पृ० 235–36
62. विंतरनित्ज, एम०, *ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर*, भाग–2, पृ० 531
63. *वही*, पृ० 532
64. गुयेन्थर, एच०बी०, *युगनद्ध*, पृ० 190
65. शर्मा, आर०एस०, *पूर्वोक्त*, पृ० 235–40
66. चक्रवर्ती, चिन्ताहरण, *दा तंत्राज*, पृ० 49
67. *वही*, पृ० 49
68. *वही*, पृ० 48
69. चंद, आर०पी०, *इंडो आर्यन रेसेज*, पृ० 153
70. *पद्म पुराण*, अध्याय 193, श्लोक 51
71. शर्मा, आर०एस०, *पूर्वोक्त*, पृ० 248–50
72. राव, टी० गोपीनाथ, *एलिमेंट ऑफ हिन्दू आइकानोग्राफी*, भाग–1, पृ० 55
73. शास्त्री, हरप्रसाद, सं० *सम्मोहन तंत्र*, पृ० 183
74. बागची, पी०सी०, *पूर्वोक्त*, पृ० 100
75. चक्रवर्ती, चिंताहरण, *पूर्वोक्त*, नौंवा अध्याय
76. शर्मा, आर०एस०, *पूर्वोक्त*, पृ० 260–65
77. *वही*, पृ० 260–65
78. *वही*, पृ० 250–64
79. झा, द्विजेन्द्रनारायण, *भारतीय सामंतवाद – राज्य, समाज और विचारधारा*, पृ० 460–461

अध्याय – 2

तान्त्रिक साहित्य एवम् जीवन पद्धति

पूर्व-मध्यकाल में जिस महत्वपूर्ण धार्मिक तत्व की ओर ध्यान आकर्षित हुआ वह तत्व तन्त्रवाद था। इस काल में तान्त्रिकों ने सभी धार्मिक संप्रदायों में अपनी जगह बना ली। इन में न केवल निम्न जातीय लोग शामिल थे, बल्कि वे ब्राह्मण भी शामिल थे जो मध्यदेश से बाहर सीमावर्ती क्षेत्रों में दिए गए भू-अनुदानों के कारण वहाँ बस गए थे। ये मानव जीवन की सम्पूर्णता तथा समग्रता के पक्षपाती थे। इनका मानना था कि संसार के प्रपंचों में पड़ने वाला व्यक्ति अपनी इनी-गिनी शक्तियों के विकास में ही कार्यरत रहता है तथा उनका चेतन-मन कतिपय विचारों तथा आचारों को सुलझाने में ही व्यस्त रहता है। जिनके कारण वह अपने अचेतन मन में पड़ी हुई अगाध, अपरिसीमित तथा अनुद्बद्ध विचारधारा को चेतन मन के स्तर तक लाने में असफल रहता है। इनका मानना है कि इन सब विचारों को उद्बद्ध कर चेतन स्तर पर लाने से ही मानव की समग्रता सिद्ध हो सकती है। अर्थात् सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो सकता है।

मनुश्य स्वभावतः युगलरूप (पुरूष-नारी) है, इन दोनों का सामंजस्य आध्यात्मिक विकास की पूर्णता के लिए तन्त्र में अभीष्ट माना गया है। इस काल में समाज में यह धारणा प्रचलित हो चुकी थी कि मातृदेवियाँ इन ओझाओं के सामने कुछ रहस्यात्मक शक्तियाँ प्रकट करती हैं जिनके बल पर ये अपने पास आए व्यक्ति के भविष्य के बारे में बतलाते थे कि क्या वे रोगों से मुक्त होंगे?, क्या उनको बच्चे पैदा होंगे? इस प्रकार के प्रश्न लोगों के द्वारा उनसे पूछे जाते थे। जिनका उत्तर ओझा लोग स्वीकारात्मक रूप में देते थे तथा

कुछ शर्तें भी बतलाते थे जिसका पालन यजमानों को करना पड़ता था। ये जब समाधि की अवस्था में रहते थें तब वे भक्तों पर आशीर्वाद बरसाते थे। ये निरक्षर ओझा कुएँ और तालाब खोदने के लिए पानी के भूमिगत स्त्रोतों का भी पता लगाने में लोगों की मदद करते थे। इसके साथ-साथ इन्होंने समाज के अत्याचार और अन्याय के विरूद्ध आवाज उठाई और ऊँच-नीच के भेदभाव का खण्डन किया। इसके लिए उन्होंने महात्मा गाँधी की तरह निम्न वर्ग जैसा रहन-सहन अपना लिया। कामाख्य, श्री पर्वत आदि स्थलों से भी पता चलता है कि ये संप्रदाय निरपेक्ष थे। इसके अतिरिक्त तान्त्रिक सिद्धि, लोगों को पहल और नेतृत्व प्रदान करने, अपने कार्य विषय में निर्णय लेने, शांति तथा युद्ध के समय राजाओं की मनोदशा आदि को संतुलित बनाए रखने में मदद करते थे। तान्त्रिकों का समाज में इतना महत्व बढ़ गया था कि गुयेन्थर ने (मनोवैज्ञानिक सिगमण्ड फ्रायड की विचारधारा से प्रभावित था) आठवीं शताब्दी के बौद्ध लेखक और सिद्ध अंगगवज्र एवं इन्द्रभूति को आधुनिक चित्त विश्लेषकों की तरह बताया जो मानसिक जीवन की गहराईयों में डूब चुके थे और मानव मन के रहस्यों को जान सकते थे।[1] राजा लोग भी उन धर्म गुरुओं को पसन्द करने लगे जो अपनी सिद्धियों से उनके उल्लु सीधे कर सके। इस काल में सिद्धि परम्परा का प्रचार-प्रसार बड़े पैमाने पर हुआ। जिनमें 84 सिद्ध परम्परा का समाज पर व्यापक प्रभाव था, जो भारतीय अनुश्रुतियों में बहुत ही प्रख्यात रही है।

सिद्धि परम्परा का विकास

सिद्ध पुरूष उन्हें कहते हैं जो साधनाओं द्वारा असाधारण, अतिमानवीय शक्तियाँ उपलब्ध कर लेते थे। इन सिद्धियों का हठयोग, रसायन-साधना आदि चिन्तनधारा में भी विशेष महत्व था।[2] सिद्धि परम्परा का विकास 'राहुलश्रीभद्र' से शुरू होता है। उन्होंने नालन्दा विश्वविद्यालय में शिक्षा पाई जिनके गुरु हरिभ्रद थे। ये दोनों बंगाल के राजा धर्मपाल (770-815 ई०) के समकालीन थे। अपनी शिक्षा समाप्त कर उन्होंने समाज के अत्याचार और अन्याय के विरूद्ध आवाज उठाई और उच्च-नीच के भेदभाव का खण्डन किया। निम्न

श्रेणी के लोगों का समर्थन करने के लिए उन्होंने उन्हीं जैसा रहन-सहन अपना लिया। वे तीर बनाने वाले की तरह उस व्यवसाय की एक लड़की के साथ रहने लगे। इससे उनका नाम सरहपाद पड़ा। ये उत्तर भारत में घूमे, तो इसी दौरान एक निषाद उनका शिष्य बना जो शबरपाद कहलाया। शबरपाद का शिष्य लुईपाद राजा धर्मपाल के दरबार का कर्मचारी था।[3] यह उच्च कोटि का लेखक भी था, जिससे सिद्धियों का विचार - ऊँची जगह पर पहुँचने लगा। सरहपाद की प्रारम्भ की गई सिद्धियों की परम्परा बराबर चलती रही और आठवीं, नौवीं शताब्दी में समाज चौरासी सिद्ध पुरूषों के अस्तित्व में विश्वास करने लगा, जिन्हें अष्ट महासिद्धियाँ उपलब्ध थी। ये महासिद्ध अजर-अमर होते थे और देवों-यज्ञिणियों तथा डाकनियों आदि के स्वामी माने जाते थे।[4] इनमें देश के सब भागों, सब वर्गों और सब जातियों के लोग शामिल हुए।

मध्यकाल में समस्त जनता 84 सिद्धों की कल्पना से प्रभावित थी और जायसी तक उनका उल्लेख अमर-पुरूषों के रूप में करते थे।

नवों नाथ चलि आवहि औ चौरासी सिद्ध।
आज महारण-भारण चले गगन, गरूड़ और गिद्ध।।

ये सिद्ध केवल कल्पना मात्र ही नहीं थे इनका ऐतिहासिक अस्तित्व भी था।

कुछ महत्वपूर्ण आदि सिद्ध

शबरपा

शबरपा को तारानाथ ने नव-सरह का नाम भी दिया है। वे सरह की शिष्य परम्परा में तीसरे थे। *सुम्पम्खन पो* के अनुसार, वे बंगाल देश के शबर थे,[5] किन्तु तारानाथ उन्हें पूर्वी भारत की किसी नर्तक जाति का बताते हैं।[6] नागार्जुन से दीक्षा लेकर वे श्रीपर्वत में साधना करने चले गये थे और वहाँ महामुद्रा सिद्धि प्राप्त की।

लुईपा

लुईपा को तंजूर में भांगली कहा गया है जिसके आधार पर म० हरप्रसाद

शास्त्री तथा भट्टाचार्य इन्हें राढ़ देश निवासी बंगाली कहते हैं।[7] किन्तु राहुल जी ने भंगाला से भागलपुर का प्रदेश का अर्थ लिया है। वे इन्हें मगधवासी कहते हैं तथा धर्मपाल के दरबार में कायस्थ थे।[8] *सुम्पमखन पो* के अनुसार ये मधुवे थे।[9] तारानाथ के अनुसार शबरीपा से दीक्षा लेकर इन्होंने श्मशान-साधना की और वज्रवाराही उपलब्ध की, उसके बाद बंगाल गये और गंगातट पर मछलियों का ढेर देखकर मछलियों का भोजन कर महामुद्रा-सिद्धि प्राप्त की।[10]

दारिकपा

तारानाथ के अनुसार लुईपा की दूसरी शिष्य परम्परा में दारिकपा तथा अन्तर आते हैं। दारिकपा को तारानाथ ने उड़ीसा का राजा बताया है जो अपने मन्त्री देपीका के साथ लुईपा के शिष्य हो गये थे।[11] *सस्क्यब्क बुम* से यह भी ज्ञात होता है कि लुईपा ने उड़ीसा आकर इन्हें दीक्षा दी और कुछ दिनों कांचीपुर में एक गणिका की सेवा कर सिद्धि-लाभ करने का आदेश दिया तब इनका नाम दारिकपा हुआ।[12] लेकिन इसको इन्होंने व्यक्तिगत रूप से दीक्षा दी थी इसमें सन्देह है क्योंकि इनके बीच समय का बहुत अन्तराल है। अतः इन्होंने लुईपा का आम्नाथ ग्रहण किया और वे लुईपा को अपना गुरु मानते थे।

डोम्बीपा

दारिकपा की शिष्य सहजयोगिनी चिन्ता थी जिनके शिष्य डोम्बीपा बताये गये। तारानाथ ने इनकी सिद्धि की एक रोचक कथा दी है।[13] ये मगध के राज़ा थे। विरूपा से उपदेश पाकर ये महामुद्रा की साधना करने लगे। प्रजा तथा मन्त्रियों ने इन्हें राज्य से निर्वासित कर दिया। बहुत दिनों बाद इनके राज्य में अकाल पड़ा। ये अपनी सिहंनी-रूपिणि शक्ति के साथ, जिनका वाहन याक था, अपने राज्य में वापस आये। प्रजा ने इन्हें पहचाना और इनका शिष्यत्व स्वीकार किया। इन्होंने विरूपा के साथ सहजयोगिनी चिन्ता को दीक्षा दी थी।[14]

कम्बलाम्बरपा

आचार्य कम्बलाम्बरपा डोम्बीपा की सहजयोगिनी चिन्ता के शिष्य थे।

तारानाथ इनकी जन्म भूमि का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि यह उड़ीसा का निवासी था। ये *चक्रसम्बर तन्त्र* के अनुयायी थे। इनका कुछ सम्बन्ध तीर्थिक वैष्णवो से भी था। मन्त्रावती नामक एक सिद्धयोगिनी से इनका वैर हो गया और उसने इन पर मारण मन्त्र का प्रयोग किया। जिससे इन्होंने एक कम्बल का रूप धारण कर लिया। इनके बारे में यह भी कहा जाता है कि ये राजपुत्र थे और इन्द्रभूति को भी इन्होंने दीक्षा दी थी। इनको जालन्धरपा का गुरु भी बताया गया है।[15]

कुक्कुरीपा

कुक्कुरीपा (10वीं सदी) राहुल के अनुसार यह कपिलवस्तु के ब्राह्मण थे।[16] तारानाथ ने इसे मीनपा का गुरु और चर्पटी का शिष्य बताया है।[17] तारानाथ ने यह भी बताया कि कुक्कुराचार्य नामक एक दूसरा आचार्य था जिसने बहुत से कुत्ते पाल रखे थे। सिद्ध कुक्कुरीपा का नाम इसलिए पड़ा था कि इन्होंने लुम्बिनी वन में एक ऐसी स्त्री से महामुद्रा सिद्धि प्राप्त की थी जो पूर्वजन्म में एक कुक्कुरी थी।[18] तंजूर में इनके 13 ग्रंथों का उल्लेख मिलता है जिनमें संभवत: 3 अपभ्रंश में थे।[19]

मीनपा

मीनपा को तारानाथ ने मत्स्येन्द्र का पिता तथा गुरु बताया और उन्हें कामरूप का मछवा बताया है। कहा जाता है कि एक बार जाल में फंस कर स्वयं मछली के पेट में चले गये और उसमें कई वर्ष रहे। मछली के पेट में ही वे ब्रह्मपुत्र में बहते-बहते उमागिरि के निकट पहुँचे जहाँ उमार तथा शिव में तंत्र-संबंधी वार्ता हो रही थी। उन्होंने इसे सुनकर तन्त्र के सारे गंभीर रहस्य जान लिये और सिद्धि प्राप्त की। उनके तीन शिष्य हुए हाली, माली और तम्बूली।[20] इनका एक ग्रन्थ तन्जूर में '*ब्राह्मान्तर बोधिचित बन्धोपदेश*' नाम का प्राप्त हुआ है।[21]

जालन्धरपा

इनके सम्बन्ध में कई कथाएं मिलती है। *सस्क्य ब्कं बुम्* के अनुसार ये

नगर भोग नामक देश के ब्राह्मण थे।[22] किन्तु तारानाथ ने इन्हें पश्चिम में स्थित सिन्धु देश के ठाठ नगर का निवासी तथा शूद्र बताया। इनका निवास स्थान तारानाथ ने ज्वालामुखी के पास जालन्धर देश बताया है। इनको ओडियान में साधना करनी पड़ी थी। जहां कच्छपा ने इन्हें बौद्ध तन्त्रों में दीक्षा दी थी। कुछ दिनों तक ये नेपाल में भी रहे। इनको राजा गोपीचन्द द्वारा भूमि खोद कर गाड़ दिया गया जहां से इनके शिष्य काणहपा ने इन्हें मुक्त कराया था।[22क] लेकिन नाथ परम्परा में इन्हें आदिनाथ माना गया है। संभवतः इन्होंने शैव पद्धति भी अपनाई थी। जिनका द्विवेदी जी ने विस्तार से वर्णन किया है।[23] इनके सात ग्रन्थ तंजूर में उपलब्ध है जिनमें दो अपभ्रंश में थे।[24] इन्होंने सरोरूहपाद के हेवज्र-साधना पर एक टीका भी लिखी थी जिसका नाम *शुद्धिवज्रप्रदीप* है। इनके शिष्यों में कृष्णाचार्य, बुद्धज्ञानपा, तन्तिपा, भर्तुहरि गोपीचन्द्र आदि थे जिनमें से कृष्णाचार्य को प्रमुखतम बताया गया है।[25]

करणहपा

करणहपा बहुत महान आचार्य हुए हैं। राहुल जी भी इन्हें विद्या और कवित्व में सबसे बड़ा मानते हैं। इनके 8 शिष्य महासिद्ध हुए।[26] लेकिन तारानाथ ने कई प्रमाणों के द्वारा सिद्ध किया है कि उड़ीसा ही इनका जन्म स्थान था।[27] ये भी अपने गुरु जालन्धरपा की तरह शैव सम्प्रदाय के बहुत निकट थे। क्योंकि तारानाथ ने इन्हें अन्दर से बौद्ध बताया किन्तु बाहरी जीवन में शैवों के निकट थे। तंजूर में इनके 74 ग्रन्थ मिलते हैं। जिनमें छः अपभ्रंश में थे।[28] *सस्क्य ब्कं बुम्* में काणहपा नाम का कारण इनके लम्बे कान होना बताया है[29] तथा '*योगिसम्प्रदायाविष्कृति*' में इनका जन्म ब्रह्मा के वीर्य का हाथी के कान में स्थित हो जाने के कारण इनका नाम काणिपा पड़ा।[30]

तन्तिपा

जालन्धरपा की शिष्य परम्परा में तन्तिपा प्रमुख थे, जिनका पद महामहिम हरप्रसाद शास्त्री वाली पाण्डुलिपि में से खो गया है किन्तु डॉ० बागची ने इनका तिब्बती रूपान्तर खोजा है।[31] *सस्क्य ब्कं बुम्* के अनुसार ये उज्जैन के तन्तुवाय थे। तंजूर में इनके एक ही ग्रन्थ का उल्लेख है '*चतुर्योग भावना*'।[32]

भद्रपा तथा महोधरपा

काणहपा के शिष्यों में महीपा, भद्रपा तथा धम्मपा भी बताये गये हैं और तीनों के चर्चापद प्राप्य हैं। इनमें से प्रथम दो माहिल तथा भदली के नाम से भी प्रसिद्ध थे।[33] *सस्क्यब्कं बुम्* में भ्रदपा को श्रावस्ती निवासी देवलेखक कुल का बताया गया है। 16वें चर्यापद के लेखक महीधरपा को यदि महीपा माना जाये तो वे *सस्क्य ब्कं बुम्* के अनुसार मगध के शूद्र सिद्ध थे। तंजूर में इनके बहुत से ग्रन्थ मिले हैं। जिनमें से "*वायुतत्व दोहा गीतिका*" सम्भवत: अपभ्रंश में था।[34]

धामपा

47वीं चर्यापद के लेखक धामपा हैं। महामहिम हरप्रसाद शास्त्री सम्भवत: राग गुर्ज्जरी को गुराड़री समझकर इनका नाम गुराडुरीपा बताते हैं।[35] धामपा के ग्रन्थ तंजूर में मिलते हैं जिनमें से सम्भवत: एक '*सुगत-दृष्टिगीतिका*' अपभ्रंश में है।[36]

चोटिलपा

चोटिलपा का नाम तंजूर में नहीं मिलता और न यह नाम वज्रयानी सिद्धों की ही सूची में है किन्तु नाथ सिद्धों की सूची में इनका नाम 64वां मिलता है।[37] गुणडुरीपा को *सस्क्य ब्कं बुम* में डिसु नगर का बहेलिया बताया गया है और लीलापा का शिष्य बताया गया है।[38] लीलापा यदि तारानाथ द्वारा निर्दिष्ट लीलावज्र थे तो मंजु-श्रीज्ञान इनके गुरुभाई थे।[39]

ढेणढ़णपा

ढेणढ़णपा का नाम तिब्बती उच्चारण में शास्त्री महोदय ने धेतन बताया है किन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं दिया है।[40] बागची के उद्धरणों में धेतन नहीं वरण ढेणढ़णपा मिलता है।[41]

ताडकपा

ताडकपा का नाम वास्तव में नाड़कपा का बिगड़ा हुआ रूप है।[42] किन्तु बागची द्वारा उद्धृत इस चर्यापद के तिब्बती अनुवाद में इनका नाम ताड़कपा ही

मिलता है नाड़पा नहीं।[43] जयनन्दीपा का नाम तंजूर में नहीं मिलता है किन्तु ये वज्रयानी सिद्धों की सूची में परिगणित 58वें सिद्ध जयानन्त थे। सम्भवत: यह मगधवासी ब्राह्मण रहे होंगे।[44] हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार आर्यदेव का चर्यानाम कर्णरीपा था और उन्हीं को वैरागीनाथ भी कहते थे।[45] *सस्क्य-सूची* के अनुसार इन्हें नालन्दावासी बताया गया है[46] तथा तारानाथ ने इन्हें नागार्जुन का शिष्य बताया है[47] और कर्णरीपा को मेवाड़ का राजा बताया गया है जो पिंगला नामक अति सुन्दरी रानी का पति था और बाद में वैरागीनाथ के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[48] तंजूर में उल्लेखित इनकी कृति "*कानेरी गीतका*" से तो ये दक्षिण में प्रख्यात सिद्ध कनेरी ही ज्ञात होते हैं, सम्भवत: इनका सही कालक्रम ठीक-ठीक पहचाना नहीं जा सकता।

बीणापा

बीणापा को तारानाथ ने डोम्बी हेरुक के समकालीन माना है। जैसा तारानाथ की कथाओं से ज्ञात होता है कि वे आचार्य अश्वपाद के शिष्य बताये गए हैं।[49] जबकि हरप्रसाद शास्त्री इन्हें निरूपा का शिष्य बताते हैं।[50] ये गौड़ देश के क्षत्रिय थे और वीणा बजाकर अपने पदों को गाया करते थे। उनके चर्यापद में भी वीणा का ही रूपक है।[51]

विरूपा

विरूपा नाम के कई सिद्ध थे। तारानाथ के ग्रन्थों के एक पूरे अध्याय में विरूपा के विभिन्न अवतारों और चमत्कारों का वर्णन मिलता है। इनके तीन अन्य नाम कालविरूप, धर्मपाल तथा केरूपा भी थे तथा ये नालन्दा, ओडियान तथा चीन में भी प्रगट हुए थे।[52] साधनमाला में भी इनकी एक साधना मिली है।[53] इसके अलावा तंजूर में इनके 13 ग्रन्थ मिलते हैं। जिनमें संभवत: 8 अपभ्रंश में थे किन्तु ये सब ग्रन्थ किसी एक विरूपा के थे या विभिन्न व्यक्तियों के यह नहीं कहा जा सकता।[54]

भुसुकुपा

भुसुकुपा को महामहिम हरप्रसाद शास्त्री *शिक्षा-समुच्चय* तथा

'*बोधिचर्यावतार*' का लेखक मानते हैं।[55] शास्त्री ने एक 14वीं शती की हस्तलिखित पांडुलिपि के आधार पर उनका जीवन वृत दिया है। जिसका श्री परशुराम चतुर्वेदी ने उनके जीवन का समुचित परीक्षण किया है और वे इस परिणाम पर पहुंचे थे कि भुसुकुपा शान्तिदेव ही थे। इनके जन्म स्थान को लेकर मतभेद है। तारानाथ इसे सौराष्ट्र का[56] तथा शास्त्री इनके पदों के आधार पर बंगाली मानते हैं। किन्तु वे जाति से राजपूत थे, जिसका उल्लेख उनकी चर्यापद में मिलता है, जहां उन्होंनें अपने को 'भुसुकु राउत' कहा है।[57] शान्तिपा प्रख्यात रत्नाकार शान्ति थे जो विक्रम के पश्चिमी द्वार के अधिकष्ठाता थे। तारानाथ के अनुसार ये नारोपा के शिष्य थे और दीपंकर श्रीज्ञान तथा अद्वप वज्र के गुरु थे। ये मगध के ब्राह्मण थे। तारानाथ के अनुसार कुछ लोग इन्हें क्षत्रिय भी बताते हैं। राजा महीपाल ने उन्हें विक्रमशीला के पूर्वी द्वार का आचार्य नियुक्त किया। अपने समय के वे महान पण्डित थे और कलिकाल सर्वज्ञ कहे जाते थे।[58]

भैरवानन्द

भैरवानन्द अपने समय का एक महत्वपूर्ण सिद्ध माना जाता है। यह *कर्पूरमंजरी* प्राकृत नाटक का एक पात्र था, जो अलौकिक शक्तियों वाला कहा जाता है। उसने कन्नौज में प्रतिहार राजाओं के दरबार में एक नाटक खेला जिसमें भैरवनंद नामक शैव सिद्ध को आसमान से चाँद उतार कर पृथ्वी पर लाते हुए और दक्षिण के राजा वल्लभराज की पुत्री को जादू से कन्नौज खींच लाते हुए दिखाया गया। इस प्रकार सिद्धों का प्रभाव राजा से लेकर रंक तक इनके बढ़ते प्रभाव को बताता है।

तान्त्रिकों की साधना के मुख्य केन्द्र

इन सिद्धों की साधना के कुछ विशिष्ट केन्द्र/पीठ देश के विभिन्न भागों में थे किन्तु इन तन्त्र पीठों में कोई भी पीठ पांचवी-छठी सदी से पूर्व का नहीं है।[59] इन तन्त्रपीठों की संख्या तथा नामों में कुछ मतभेद हैं। बागची महोदय़ ने दो परम्पराओं का उल्लेख किया है। एक के अनुसार जालन्धर, ओडियान, अर्बुद

तथा पूर्वगिरि और दूसरी के अनुसार - जालन्धर, ओडियान, कामरूप तथा पूर्णगिरि थे। इनमें पांच प्रमुख सिद्धपीठ माने गये हैं।[60] जबकि *साधनमाला* में ओडियन पूर्णगिरि, कामाख्या और श्रीहट चार प्रमुख सिद्ध पीठों का उल्लेख हुआ है,[61] प्रमुख पीठों का वर्णन इस प्रकार है-

जालन्धर

यह निस्संदेह पंजाब में स्थित था क्योंकि तिब्बती अनुश्रुतियों में उसका जैसा उल्लेख है वह स्पष्ट आधुनिक जालन्धर के निकट ही उसकी स्थिति का प्रमाण प्रस्तुत करता है। यह महान सिद्ध जालन्धरपा की साधना का केन्द्र स्थल था।[62] नाथ सम्प्रदाय के बारह पन्थों में से तीन पंथों के केन्द्र अबोहर, गुरुदासपुर तथा झेलम में अब भी पाए जाते हैं। झेलम प्रान्त में गोरख-टीला योगियों का केन्द्र है। अत: वह क्षेत्र भी तान्त्रिकों तथा योगियों का केन्द्र रहा है।[63]

कामाख्या

कामाख्या या कामरूप प्राचीन काल से ही तन्त्र साधनाओं का केन्द्र रहा है। जिनके परिणामस्वरूप समस्त भारत की जनश्रुतियों में कामरूप का जादू भंयकर माना गया है। कामरूप आसाम में गौहाटी के निकट ही स्थित है। ह्यनेसांग के यात्रा विवरण से पता चलता है कि कामरूप में बौद्ध का प्रभाव नहीं था। 7वीं सदी में वहां के लोग व्यापक रूप में शिव की पूजा करते थे। किन्तु वे राजभय से गुह्यसाधनाएँ गुप्त रूप से ही करते थे।[64] मौर्य राजाओं के बौद्ध होने के कारण बहुत से ब्राह्मण मध्यदेश से आसाम में आकर बस गये थे। ह्युनसांग ने भी इसकी साक्षी दी है।[65] कामरूप में निस्सन्देह शैव प्रभाव अधिक था लेकिन 7वीं सदी के बाद यहाँ शैव व बौद्ध साधनाएँ बहुत निकट आई और बौद्ध तन्त्रों ने प्रचुर मात्रा में शैव प्रभाव ग्रहण किया। यहाँ मीननाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, लुईपा आदि की मूर्तियाँ पाई गई हैं।

ओडियान

ओडियान की भौगोलिक स्थिति के विषय में विद्वानों में काफी मतभेद हैं। सिद्ध सरहपा का संबंध ओडियान से बताया गया है।[66] तिब्बती अनुश्रुतियों में

लुईपा को उद्यान (ओडियान) के राजा को कायस्थ बताया गया है।[67] डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य भी तान्त्रिक पद्धतियों का उद्‌गम स्थान ओडियान को ही मानते हैं।[68] हरप्रसाद शास्त्री ने ओडियान को उड़ीसा माना है।[69]

श्री पर्वत

यह कापालिको तथा वज्रयानियों की साधना का केन्द्र बताया गया है। यह मध्य भारत में था और तारानाथ के अनुसार नागार्जुन ने वहां साधनाएँ की थी[70] तथा मालती माधव में भी श्री पर्वत को बौद्ध तथा कापालिक साधनाओं का केन्द्र माना है।[71] इस केन्द्र का उल्लेख बाण ने अपनी कादंबरी में भी किया है।[72] इन पीठों के अतिरिक्त नालन्दा तथा विक्रमशील भी सिद्धों की शिक्षा का मुख्य केन्द्र रहा है। दोनों विद्यापीठ तन्त्रों के विकास से बहुत संबंधित रहे हैं। सरहपा, नागार्जुन, मैत्रीगुप्त, विरूपा आदि सिद्धाचार्य नालन्दा के आचार्य रहे थे[73] तथा विक्रमशीला विहार के दीपांकर और श्रीज्ञान छात्र थे। बौद्ध तन्त्रों के तिब्बती अनुवाद का बहुत सा हिस्सा यहीं सम्पन्न हुआ था।[74]

इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि इन सिद्धों का मुख्य केन्द्र पूर्वी भारत में था किन्तु इनके साधना स्थल समस्त भारत में फैले हुए थे। यहाँ एक विशेष बात उल्लेखनीय है कि मध्यदेश में इनके किसी प्रमुख साधना केन्द्र का उल्लेख नहीं मिलता है। प्रारंभिक तन्त्रपीठ भारत के सीमातीएँ प्रदेश में थे। जिसमें तन्त्रों के विकास तथा प्रसार में व्रात्यों, वहिरंगा, आर्यों, अनार्य अनुष्ठानों आदि का बड़ा निकट सम्पर्क था।[75]

तान्त्रिकों की साधना पद्धति

तान्त्रिक आचार एक नितान्त रहस्यपूर्ण व्यापार है। गुरु जब अपने शिष्य को दीक्षा देता है, तो वह शिष्य को इसका रहस्य समझाता है। विशिष्ट योग्यता के अभाव में व्यक्ति तान्त्रिक की साधना पद्धति में नहीं आ सकता। क्योंकि इसके सिद्धान्त बहुत गुप्त रखे जाते हैं। ऐसा न होने पर गुरु और शिष्य दोनों का हानि पहुँचती थी। इस प्रकार से तन्त्र की साधना बहुत कठोर होती थी। इन्हीं में से एक चक्रपूजा का वर्णन हम संक्षेप में करेंगे।

चक्रपूजा

इसे घेरे में होने वाली पूजा भी कहते हैं। इसमें बराबर संख्या में पुरूष एवं नारी बिना जाति-भेद के यहाँ तक कि सन्निकट रक्त सम्बन्धी जन भी गुप्त रूप से रात्री में मिलते हैं और एक वृत में बैठते हैं।[76] इसमें एक यन्त्र (चित्र) के रूप में देवी चित्रित होती है। चक्र का एक नेता होता था। उपस्थित स्त्रियों में अपनी-अपनी कंचुकी को एक पात्र में रख देती थी और उपस्थिति पुरूषों में प्रत्येक उनमें से किसी को उस रात्रि के लिए चुन लेता था। *कुलर्णवतन्त्र* ने यह भी सम्मति दी है कि चक्रपूजा गुप्त रीति से होनी चाहिए। इसमें उल्लेखनीय बात यह है कि चक्र में जो कुछ भला-बुरा होता है उसे जनता में कभी नहीं कहना चाहिए।[77]

कौल/कौलधर्म

कौलशास्त्र, वेद वचनों के समान प्रामाणिक है और तर्क द्वारा इसे समाप्त नहीं किया जा सकता।[78] कुलार्णव तन्त्र में आगे ऐसा आया है - जिसमें चारों वेद पढ़ लिये हैं, किन्तु कुल धर्म से अनभिज्ञ है। वह चाण्डाल से भी अधम है, किन्तु वह चाण्डाल जो कुलधर्मों को जानता है, ब्राह्मण से उच्च है। यदि सभी धर्मों, यज्ञों, तीर्थयात्राओं, व्रतों को एक ओर रखा जाये तथा कुलधर्म को दूसरी ओर, तो कौल धर्म भारी (उत्तम) पड़ेगा।[79] अतः आवश्यक है कि हम कुल अथवा कौलधर्म के अर्थ को जान लें। *गुह्यसमाज तन्त्र* में उल्लेखित है कि गुह्य का अर्थ है काया, वाक् (वाणी) एवं चित (मन) तथा समाज का अर्थ है मीलन (अर्थात् एक साथ आना)। कुल के त्रिकुल, पंचकुल या 101 भेद हैं और गुह्य का अर्थ है त्रिकुल। इनके अनुसार देवशंकर ने पांच तत्व घोषित किये हैं - मद्य, मास, मत्स्य, मुद्रा (हाथ एवं अंगुलियों की मुद्रा या योगी की नारी सहायिका) एवं मैथुन, ये ऐसे कर्म है जो वीर के आसन की प्राप्ति के साधन है और शक्ति का मन्त्र तब तक पूर्णता नहीं प्रदान करता, जब तक कुल के प्रयोगों का अनुसरण नहीं किया जाता है। मद्य, मास, मत्स्य, मुद्रा एवं मैथुन ये शक्ति-पूजा विधि के पांच तत्व कहे गये हैं।[80] *शक्तिसंगमतन्त्र* में आया है कि कुल का तात्पर्य काली के उपासकों (पूजा करने वालों) से है। *कुलार्णव*

में उल्लिखित कुलल का अर्थ है गोत्र और वह शक्ति एवं शिव से उदित होता है, वह व्यक्ति कौलिक है, जो यह जानता है कि मोक्ष की प्राप्ति उससे (शक्ति/शिव) होगी। शिव अकुल कहलाता है और शक्ति को कुल कहते हैं, जो लोग कुल एवं अकुल का ध्यान करते हैं। वे विज्ञ कौलिक कहे जाते हैं।[81] यह आचार मद्य, मास, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन इन पंच 'मकार' या पंच तत्व के सहयोग से अनुष्ठित होता है।[82]

पंचमकारो का रहस्य

मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा एवं मैथुन, इन मकारों का रहस्य नितान्त गूढ़ है। पण्डित बलदेव उपाध्याय के अनुसार "वास्तविक बात यह है कि ये अभ्यन्तर अनुष्ठान के प्रतीक हैं जो कोई बाह्य और भौतिक अर्थ में प्रयोग करता है, वह यथार्थ बात से बहुत दूर है।"[83] मद्य का अर्थ यह बाहरी शराब नहीं है, अपितु ब्रह्मरन्ध्र में स्थित सहस्त्र दल कमल से क्षरित होने वाली सुधा है। उसी को पीने वाला व्यक्ति मद्यम है। *महानिर्वाण तन्त्र* में आया है कि कुलीन स्त्रियों को मद्य की केवल मद्य लेनी चाहिए, न कि पीना चाहिए, गृहस्थ साधक को केवल पांच पात्र मद्य ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि अधिक पीने से कुलीन लोगों को सिद्धि की हानि होती है और उतना ही पीना चाहिए कि आंखे घुमने न लगे और मन अस्थिर न हो जाये।[84] जिसके द्वारा साधक बाह्य संसार के लिए एक प्रकार से संज्ञा शून्य हो जाता है। मांस वह है जो पुरूष पुण्य और पाप रूपी पशुओं को ज्ञान रूपी खड्ग के द्वारा मार डालता है और अपने मन को ब्रह्मा में लीन करता है अर्थात् साधक अपने स्व अपने कर्म को भगवान शिव को समर्पित कर देता है। वही मांसाहारी है। मत्स्य जिसके प्रथम भाग मत का अर्थ है मेरा, *आगमसागर* के अनुसार शरीर मे स्थित ईडा तथा पिंगला नाड़ियों का नाम गंगा और जमुना है। इसमें प्रवाहित होने वाले श्वास को प्रश्वास बन्द कर कुम्भक के द्वारा प्राणवायु के सुषुम्मना के भीतर संचालन करता है जिसके द्वारा साधक प्राणियों के सुख एवं दुःख से सहानुभूति रखता है। वहीं मत्स्य साधक है।[85] *विजयतन्त्र* के अनुसार सत्संग के प्रभाव से मुक्ति मिलती है और असत् संग के अभाव से बन्धन प्राप्त होता है। इसी असत् संग के त्याग का ही नाम मुद्रा है।

मैथुन का अर्थ मिलाना है सहस्त्रार में स्थित शिव का और मूलधार में स्थित कुण्डलिनी का मिलना अथवा सुषुम्मना का प्राण से योग करना मैथुन है।[86] इस प्रकार पण्डित बलदेव उपाध्याय के अनुसार "इन पंचमकारों का समन्ध अन्तयोग से है। इसका अधिकारी भी साधारण व्यक्ति नहीं होता, प्रत्युत उच्च कोटि का साधक ही उसका उपयुक्त पात्र है जो पर द्रव्य के विषय में अन्धतुल्य, परस्त्री के विषय में नपुंसक तुल्य, परनिन्दा के मूकतुल्य तथा जितेन्द्रिय है।"[87]

योग

गुह्यसमाज तन्त्र ने बुद्धत्व शीघ्र प्राप्त करने के लिए योग की क्रियाओं का समावेश किया है।[88] मांस एवं मैथुन की अनुमति के पीछे धारणा यह थी कि योगी को, जब तक बुद्धत्व के लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो जाती तथा अपने मानसिक जीवन का विकास नहीं कर लेता, तब तक अपने कार्य-कलापों के प्रति योगी को उदासीन रहना चाहिए।[89]

पूर्व-मध्यकाल में मुक्ति (मोक्ष) के लिए एक नवीन प्रक्रिया का समावेश किया गया। जिसका पहला उदाहरण हमें वज्रयान सम्प्रदाय में मिलता है जहाँ मुक्ति के लिए योग द्वारा शक्ति की उपासना का उपयोग है।[90] *गुह्यसमाज तन्त्र* में आया है कि यदि छह मासों तक प्रयत्न करने के उपरान्त भी ज्ञान न प्राप्त हो तो साधक को यह प्रयत्न तीन बार और करना चाहिए, यदि ऐसा करने पर भी सम्बोधि न प्राप्त हो तो उसे हठयोग करना चाहिए और तब वह योग द्वारा सत्य ज्ञान की प्राप्ति करेगा।[91] वास्तव में हठयोग चित्त का निरोध कर गुह्य साधनाओं के लिए भूमिका प्रस्तुत करता है। बिना हठयोग के द्वारा बिन्दु का निरोध किये गुह्य साधनाएँ कभी भी सफल नहीं होती, उनमें च्युति तथा स्खलन का भय रहता है।[92] अत: जहाँ योगदर्शन में योग एकमात्र साधन माना गया है, वहीं हठयोग केवल तन्त्र की आनुषंगिक सहायक साधना मात्र है।[93] इससे वे सिद्धि प्राप्त करने लगे जिनमें आठ सिद्धियों वाले साधक का महत्व बहुत अधिक माना जाता था।

आठ सिद्धियाँ

प्रपञ्चसार ने आठ सिद्धियों की चर्चा की है और कहा है कि आठ

सिद्धियों वाला व्यक्ति मुक्त कहा जाता है तथा उसे योगी की संज्ञा मिलती है।[94] सिद्धियों का सिद्धान्त प्राचीन है जिसका उल्लेख *आपस्तम्भ धर्म सूत्र* में मिलता है। लेकिन *योगसूत्र भाष्य* में आठ सिद्धियों के नामों का उल्लेख मिलता है।[95]

अणिमा	–	एक अणु के समान हो जाना।
लधिमा	–	हलका होकर उपर उठ जाना।
महिमा	–	सर्वत के समान विशाल आकाश के समान हो जाना।
प्राप्ति	–	सभी पदार्थों का सन्निकट हो जाना, अगुली से चन्द्रमा को छू लेना।
प्राकाम्य	–	कामना का अवरोध न होना।
वशित्व	–	पंच तत्वों पर स्वामित्व
ईशित्व	–	तत्वों के निर्माण, समाहित होने या संगठन पर प्रभाव
यत्र कामावसायित्व	–	अपनी इच्छा के अनुसार वस्तुओं को बना देना, जैसे विष का प्रभाव अमृत हो।

जिसे उपर्युक्त आठ सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती है। वह सिद्ध कहलाता है। गीता में कपिल को सिद्धों में एक सिद्ध बताया गया है। *योगसूत्र* में पांच प्रकार के सिद्धों का उल्लेख मिलता है। जन्म, औषधियों, मन्त्रों, तपों तथा समाधि से उत्पन्न होने वाले सिद्ध।[96] लेकिन भट्टाचार्य ने *योगसूत्र* से भिन्न बौद्धों की आठ सिद्धियों की चर्चा की है।[97] जो इस प्रकार हैं –

खड़ग – वह तलवार जिस पर मन्त्र फूंका जाता है, जिसे धारण कर यौद्धा लड़ाई में विजय प्राप्त करता है।

अंजन	–	वह अंजन जिसके प्रयोग से व्यक्ति गुप्त धन देख लेता है।
पादलेप	–	वह लेप जिसे लगने पर व्यक्ति अदृश्य रूप से विचरण कर सकता है।
अन्तर्धान	–	देखते-देखते अदृश्य हो जाना।

रसरसायन	–	साधारण धातु का सोना बना देना।
खेचर	–	आकाश में उड़ना।
भूचर	–	पृथ्वी पर कहीं शीघ्रता से चला जाना।
पातालसिद्धि	–	पृथ्वी के भीतर डूबना।

सिद्धि का स्थान व समय एवं लक्षण

जयाख्यसंहिता का कथन है कि पुरश्चरण (मंत्र जपना) करने में तीन वर्ष तक साधक के समय, भांति-भांति की विघ्न बाधाएँ आती हैं, किन्तु यदि उसके मन एवं कर्म पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता तो चौथे वर्ष उसके पास लोग शिष्य बन कर आते हैं। उनकी सेवा करने लगते हैं और अपना सब कुछ समर्पित कर देते हैं। सात वर्षों के उपरान्त उसके पास घमण्डी राजा भी अनुग्रह एवं प्रसाद के लिए पहुँचता है, नौ वर्षों के उपरान्त वह अलौकिक अनुभव प्राप्त करने लगता है।[98] जैसे गम्भीर स्वप्न, आह्लादा, मधुर संगीत, गन्ध तथा वैदिक पाठ का अनुभव होने लगता है। वह कम खाता है, कम सोता है, किन्तु दुर्बल नहीं होता। ये सब सिद्धि की अवस्था में लक्षण बताए गए हैं।

अग्निपुराण, कुलार्णवतन्त्र एवं *शारदातिलक* ने पुरश्चरण के स्थानों के विषय में नियम की व्यवस्था की है। पुण्यक्षेत्र, नदीतीर, गुहा, पर्वत-मस्तक, तीर्थस्थान के पास का स्थल, नदियों का संगम, पावन वन, उद्यान, पर्वत की ढाल, समुन्द्र तट तथा अपना घर या ऐसा स्थान जहां मन प्रसन्न हो जाए।[99]

इन सिद्धियों की यूं तो संख्या अनगिनत होती है किन्तु फिर भी इनमें से प्रमुख तथा उत्कृष्ट सिद्धियाँ प्राप्त करने की परम्परा रही है। *ब्रह्मवैवर्त* में 34 सिद्धियाँ बताई गई हैं।[100] कहीं-कहीं इनकी संख्या 18 तथा 224 बताई गई हैं।[101] किन्तु हठयोग में आठ सिद्धियाँ मानी जाती है।[102]

सिद्धि परम्परा में गुरु का महत्व

तान्त्रिकों को मानसिक एवं अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त करना, गुरु के मार्गदर्शन से ही संभव था। इसके बिना साधक एक अन्धे के समान माना गया है। तान्त्रिक ग्रन्थ गुरु की महत्ता एवं उनके द्वारा किए अनुष्ठानों के प्रभुत्व पर

बल देते हैं।[103] *प्रज्ञोप्रायविनिश्चय सिद्धि* में गुरु के प्रति उत्कृष्ट प्रशस्ति है। वे बुद्ध के सदृश कहे गये हैं तथा विभु आदि पदवियाँ दी गयी हैं।[104] इसी प्रकार *अद्धयसिद्धि* (लगभग 729 ई०) में आया है कि तीन लोकों में आचार्य से बढ़कर कोई अन्य नहीं है।[105] *कुलार्णक* ने गुरु की अर्हताओं एवं महता का उल्लेख किया है जहां गुरु एवं शिष्य की अर्हताओं की चर्चा है। *शारदातिलक* में भी ऐसा वर्णन है जहां गुरु को सभी आगमों, शास्त्रों के तत्वों एवं अर्थ को जानना चाहिए। उनका वचन अबोध होना चाहिए, उसे शान्त मन वाला होना चाहिए। उसे वेद एवं वेदांग में पारंगत होना चाहिए, उसे योगमार्गानुगामी होना चाहिए और उसे देवताओं के समान कल्याणकारी होना चाहिए तथा शिष्य को चाहिए कि वह मन्त्रों, पूजा एवं रहस्यों को गोपनीय रखें।[106]

पारानन्द सूत्र का कथन है कि शिष्य को किसी गुणवान गुरु से दीक्षा लेनी पड़ती है, जो उसे मन्त्र सिखाता है जो अपने मुख में पानी भरकर शिष्य के मुख में डालता है और शिष्य पीता हुआ मन्त्र स्वीकार करता है।[107] यह विधि तब प्रयोग में लाई जाती है जब कि गुरु ब्राह्मण होता है, किन्तु जब गुरु क्षत्रिय होता है तो वह कान में मन्त्र सुनाता है।[108]

झूठे गुरुओं से सावधान रहना

ऐसा नहीं था कि प्रत्येक गुरु को मुख्य स्थान प्राप्त हो। तन्त्र ग्रन्थों एवं अन्य समकालीन ग्रन्थों के अध्ययन से पता चलता है कि ऐसे झूठे गुरुओं से सावधान रहना चाहिए, जो धन लोभ में लोगों को धर्म-शिक्षा देते हैं और सत्य जानने का बहाना करते हैं।[109] झूठे गुरुओं ने लोगों को मद्य-मास एवं नारियों के साहचर्य को सरल विधि द्वारा निर्वाण प्राप्ति की हरी झंडी दिखाकर उनको भ्रमित कर दिया था। ऐसा ही एक वर्णन हमें राजशेखर द्वारा प्रणीत प्राकृत नाटक *कर्पूरमंजरी* के एक पात्र भैरवानंद का मिलता है, जो कहता है कि गुरु को प्रसाद से हम लोग मन्त्रों, तन्त्रों, ध्यान के विषय में कुछ भी नहीं जानते। हम मद्य पीते हैं, महिलाओं के साथ रमण करते है तब भी कुलमार्ग में सलंग्न रहने के कारण मोक्ष पाते हैं।[110] अतः तन्त्र ग्रन्थों में ऐसे गुरुओं से सावधान रहने के लिए कहा गया है।

दीक्षा

दीक्षा से अभिप्राय है जो शिष्य को सभी प्रकार के पापों का क्षय करते हुए संसार के बन्धनों से मुक्त कर दिव्य ज्ञान का आभास कराती हो, उसे दीक्षा कहते हैं। लेकिन दीक्षा के विषय में तान्त्रिकों ने कोई नयी बात प्रचलित नहीं की। प्राचीन वैदिक काल से ही उपनयन से आध्यात्मिक जन्म का आरंभ माना जाता रहा है।[111] किन्तु पूर्व-मध्यकाल में ये क्रियाएँ उतनी विशुद्ध नहीं थी जितनी की तान्त्रिक ग्रन्थों वाली दीक्षा। दीक्षा का *प्रपंचसार, कुलार्ण, शारदातिलक, नित्योत्सव, ज्ञानार्णव, विष्णुसंहिता, महानिर्वाण तन्त्र, लिंग पुराण* आदि ग्रन्थों में दीक्षा का विशद् उल्लेख हुआ है। इन ग्रन्थों में दीक्षा को दा (देना) धातु एवं क्षि (नाश करना) से निष्पन्न मान है। यह दिव्य भाव प्रदान करती है तथा सभी पापों का क्षय करती है और इस प्रकार संसार के बन्धन से मुक्ति देती है।[112]

तन्त्रराजतन्त्र में आया है कि गुरु को 1,2,3,5 वर्षों तक क्रम से चारों वर्णों एवं मिश्रित जाति वालों के गुणों एवं भक्ति की परीक्षा लेनी चाहिए। तब मन्त्र (दीक्षा) देनी चाहिए, नहीं तो गुरु एवं शिष्य दोनों कष्ट में पड़ेंगे,[113] दीक्षा एवं मन्त्र की प्राप्ति के उपरान्त शिष्य को गुरु के आदेशों का पालन तब तक करना चाहिए जब तक उसे इष्ट का दर्शन न हो जाए। सिद्धियों की प्राप्ति के लिए शिष्य द्वारा सभी प्रकार से गुरु की सेवा की जानी चाहिए।[114]

दीक्षा का समय

तान्त्रिक ग्रन्थों में गुरुओं ने दीक्षा देने के समय का वर्णन भी मिलता है। शक्तिसंगमतन्त्र के अनुसार दीक्षा का सर्वोत्तम काल चन्द्र एवं सूर्य ग्रहण है किन्तु चन्द्र ग्रहण काल सर्वोत्तम है। जब मन्त्र-दीक्षा ग्रहण में दी जाती है तो वार तिथि नक्षत्र, मास या योग का विचार नहीं होता।[115] *अग्नि पुराण* में भी दीक्षा के विषय में उल्लेख आया है।[116] *ज्ञानार्णवतन्त्र* में आया है कि दीक्षा के समय गुरु को अपने शिष्य को 6 चक्रों (मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध एवं आज्ञा) के साथ प्रत्येक के दलों की संख्या, रंग तथा प्रत्येक के अक्षरों का ज्ञान करा देना चाहिए।[117] आखिर में *कुलार्णवतन्त्र* में दीक्षा के महत्व के बारे में बताया गया है कि बिना दीक्षा के मोक्ष नहीं प्राप्त हो

सकता, बिना आचार्य के दीक्षा नहीं प्राप्त हो सकती तथा यह तब तक फल नहीं देती, जब तक गुरु उसके विषय में शिक्षा न दे।[118] दीक्षा विहीन को न तो सिद्धि मिलती है न सद्गति।

तान्त्रिकों के कार्य

गुह्यसमाज तन्त्र व अन्य तन्त्र ग्रन्थों में तान्त्रिकों के कार्यों का वर्णन है। *विष्णुधर्मोतर पुराण* में 'सम्मवतसार' के बारे में बताया गया है कि राजा, मन्त्रियों के अलावा सम्मतसार की भी सलाह लेता था। चूंकि साधक अलौकिक शक्तियाँ रखने लगे थे। अनावृष्टि पर वृष्टि कराना, शत्रु की प्रतिमा पर जादू की क्रिया करके उसे मारना।[119] इसके अतिरिक्त हमें इनके अति क्रूर छह कर्म भी ज्ञात होते हैं, जिनका उल्लेख *गुह्यसमाजतन्त्र, शारदातिलक* एवं *साधनमाला* में आता है।

शांति	–	रोग एवं जादू को दूर करने की क्रिया।
वशीकरण	–	स्त्रियों, पुरुषों, यहाँ तक कि देवों को वश में करना।
स्तम्भन	–	दूसरे की गतियों एवं क्रियाओं को रोकना।
विद्वेषण	–	दो मित्रों में शत्रुता उत्पन्न कर देना।
उच्चाटन	–	किसी व्यक्ति/शत्रु को देश, नगर, गांव से भगाना।
भारण	–	प्राणियों पर न मिटने वाला घाव कर देना।[120]

इसके अलावा इन्होंने पूर्व-मध्यकाल में राजनीतिक सत्ता स्थपित करने में भी महत्वपूर्ण हिस्सेदारी की। उन्होंने राजाओं में दैवीय गुण बताकर उनकी सहायता की और युद्धों में विजय ज्योतिष तरीकों की सफलता बताई।[121] *राजतरंगिणी* में भी तान्त्रिकों के कार्यों का वर्णन मिलता है।[122] कल्हण कहता है कि कश्मीर के राजा अवन्ति वर्मा के शासन काल में 'भट्ट कल्लट' ऐसे सिद्ध लोगों ने संसार के कल्याण के लिए जन्म लिया था।

तान्त्रिकों का खान-पान

ऊपरी तौर पर देखने से ये खुली अनैतिकता के प्रचारक मालूम होते हैं।

इन्द्रभूति *ज्ञान सिद्धि* में लिखते हैं कि योगी को इस चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए कि क्या खाना है, क्या नहीं, क्या पीना है क्या छोड़ना है, कहाँ जाना है, कहाँ से बचना है।[123] *कूलाराविर्तंत्र* में कहा गया है कि कौलिको को उन चीजों को खाना चाहिए, जिन्हें जन साधारण बुरा समझते हो, उन पेयों को पीना चाहिए जिनसे दूसरे परहेज करते हों और उन जगहों पर जाना चाहिए, जो उन्हें नापसन्द हो।[124] इसी तरह *अकुलवीरतन्त्र* में लिखा है कि साधक को व्रत, श्राद्ध, उपवास, तीर्थयात्रा आदि फन्दे में नहीं फंसना चाहिए और खाने-पीने के चक्कर से निकलना चाहिए। लेकिन प्रश्न का विषय है कि समाज ने ऐसी अनुचित बातें क्यों सुनी कि "नित्य गोमांस भराण करो, वारूणी का पान करो, बल्कि यहां तक भी इजाजत दी गई कि लोगों की चीजें चुराओं, औरते भगाओं, जान लो और झूठ बोलो।[125]

लेकिन प्राचीन टीकाकारों ने इनकी लाक्षणिक व्याख्या की है। *हठयोग प्रदीपिका* में लिखा है कि गोमांस का अर्थ जीभ को मोड़ कर तालु में लगाना है और वारूणी का अर्थ - शिरस्थान में ब्रह्मरन्ध्र के निकट सहस्त्रदल कमल की जड़ के पास की योनि में स्थित चन्द्रमा से रिसने वाला रस है।[126] इसी प्रकार चर्यापदों की टीका में मुनिदत्त में डूमनी का अर्थ नैरात्म्य और शराब बेचने वाली (शुण्डिनी) का अर्थ इड़ा और पिगंला नाम की नाड़ियों के बीच चलने वाली सुषुम्ना नाड़ी ही नहीं बताया, बल्कि इनको योग, रस और वज्र की साधनाओं का परिणाम भी बताया।

इन लोगों में सामाजिक विद्रोह का भाव इतना अधिक था कि ये जानबूझकर धक्कामार भाषा का प्रयोग करना चाहते थे। इन्होंने जाति-पांति और ऊंच-नीच के भेदभाव पर टिकी सामाजिक व्यवस्था और उसके समर्थक शास्त्रीय विधान और नैतिक आचार से इतनी घृणा थी कि वे इशारा करके चिढ़ाने और भटकाने वाली बातों का प्रचार करते थे। जायसी ने लिखा है कि योगियों की कोई जाति नहीं थी।

का पूछँउ अब जाति हमारी। हम जोगी और तपा भिखारी।
जोगिहि जाति कौन हो राजा। गारि न कोह मार नहि लाजा।।[127]

प्रमुख तान्त्रिक रचनाएँ

बहुत से हिन्दू एवं बौद्ध तन्त्रों का प्रकाशन हो चुका है। *कुलार्णव, तन्त्रसार, नित्योत्सव, परशुराम, कल्पसूत्र, पारानन्दसूत्र, प्रपञ्चसार,* महीधर कृत *मन्त्र महोदधि, महानिर्वाण तन्त्र, रूद्रयामल, आनन्दाश्रम* का संस्करण, *वामकेश्वरतन्त्र, शारदातिलक* (11वीं सदी)। इसके अतिरिक्त तन्त्र साहित्य का सबसे प्रसिद्ध रचियता अभिनवगुप्त था जिसका परिवार उससे 260 वर्ष पूर्व कान्यकुब्ज से जाकर कश्मीर में बस गया था और उसे वहां बड़ी जागीर दी गई थी।[128] अभिनवगुप्त ने *तंत्रालोक* नामक वृहत ग्रन्थ की रचना की, जिसमें तन्त्र की कुल तथा त्रिक पद्धतियों की शिक्षा को सुव्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया गया है[129] तथा इनमें *मालिनी विजयवार्तिक* जैसे अन्य तन्त्र ग्रन्थ भी हैं जो उपर्युक्त ग्रन्थों से कुछ भिन्न हैं।

प्रकाशित बौद्ध तन्त्र ग्रन्थों में *अद्वयवज्रसंग्रह, आर्यमञ्जुश्रीमूल कल्प, गुह्यसमाज तन्त्र* (असंग, भट्टाचार्य के अनुसार) इन्द्रभूमि (717 ई० सन्) की *ज्ञानसिद्धि*, अभयाकार गुप्त की *निष्पन्नयोगावलि* (11वीं सदी के अन्ति चरण एवं 12वीं सदी के प्रथम चरण में प्रणीत) अनंगवज्र (705 ई०) की *प्रज्ञोपाय विनिश्चयसिद्धि, षट्चक्रनिरूपण* (1577 ई० सन्), *साधनमाला* (जिसमें तीसरी सदी से 12वीं सदी तक के छोटे-छोटे 312 ग्रन्थों का संग्रह है।) प्रमुख हैं। बी० भट्टाचार्य ने बौद्ध तन्त्रों में *आर्यमजुश्रीमूलकल्प* एवं *गुह्यसमाज तन्त्र* को सबसे प्राचीन बताया हैं।[130] उपर्युक्त बहुत से ग्रन्थ आर्थर स्वालोन (सर जॉन वुड्रोफ) द्वारा एवं गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज द्वारा प्रकाशित हैं।

जनजातीय तान्त्रिक ग्रन्थों में

हेवज्रतन्त्र (बंगाल में रचित लगभग दसवीं सदी की कृति जिसे *योगिनी तंत्र* भी कहते हैं) में बंताली, धास्मारी, शबरी, चंडाली और डोम्बिनी जैसी देवियों के नामों का उल्लेख है।[131] *गौड़वहो* (लगभग आठवीं सदी की रचना) में विध्यंवासिनी को काली एवं पार्वती बताया है और उसे कोलो तथा शबरों से संबंध दिखाया गया है। हरिवंश (आठवीं सदी की रचना) *कुलार्णवतन्त्र* (उत्तर व पूर्वी भारत में मिलती है) इसमें शक्ति की पूजा का उल्लेख हुआ है।

कुब्जिकातंत्र – सातवीं सदी की उत्तर-गुप्त लिपि में लिखा गया। नेपाल से प्राप्त होता है। इसकी संस्कृत रचना (नकल) हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार छठी-सातवीं सदियों में तैयार की गई। *कालिका* (10वीं सदी की रचना) में शक्ति पीठों का उल्लेख है।

मातंग परमेश्वरी तन्त्र की रचना मातंगी जनजातियों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए की गई। *मेरूतंत्र* (बंगाल में रचित) में लंदन से अंग्रेजों के आने की बात कही गई है। *निश्वासतंत्र संहिता* (8वीं सदी) सांकेतिक गुप्त लिपि में लिखी आद्यतम तान्त्रिक रचना है।[132] *जयाख्या संहिता* की पांडुलिपि 1187 ई० सन् में नेपाल में तैयार की गई।[133] लेकिन हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार इसकी रचना पांचवी सदी में पश्चिमी भारत के किसी इलाके में हुई मानते हैं।[134] *महाकौलज्ञानविनिर्णय* की प्रतिलिपि, जिसे मत्स्येन्द्रनाथ नेपाल ले गए थे, गुप्त लिपि में लिखी मिली है। जैसे 859 ई० सन् में नकल की गई *परमेश्वरी तन्त्र* की पांडुलिपि। यह पांडुलिपि कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी लाईब्रेरी में उपलब्ध है। *वज्रयोगिनी साधना* नाम की पांडुलिपी 1154 ई० सन् में नेपाल में तैयार की गई। इसमें उड़ीसा के इन्द्रभूमि नामक राजा द्वारा निर्धारित विधि-विधानों के अनुसार वज्रयोगिनी की सिद्धि का वर्णन किया गया है।

कुछ जैन तन्त्र ग्रन्थों की जानकारी हमें मिलती है। लगभग आठवीं शताब्दी में गुजरात जैन आचार्य हरिभ्रद सूरि (आठवीं सदी) ने '*समराइच्चवाहा*' की रचना की। यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से यह तान्त्रिक रचना नहीं है लेकिन तान्त्रिक आचार-विचार से ओत-प्रोत है। इस तरह इन्द्रनदी कृत *ज्वालिनी कल्प* की रचना 939 ई० सन् में पूरी हुई और 947 ई० में सन् जैन मुनि ने मैसूर में *भैरव पद्मावती कल्प* नामक तान्त्रिक ग्रन्थ का संकलन किया।[135]

इस प्रकार पूर्व-मध्यकाल में तान्त्रिक साधनाओं एवं सिद्धियों की उपलब्धियों को विशेष महत्व दिया गया और समय के साथ लोक परम्परा में सिद्धियों के भौतिक एवं चमत्कारपूर्ण अर्थों को महत्व दिया जाने लगा था और ये चौरासी सिद्ध उन्हीं चमत्कारों के लिए प्रख्यात थे। इन सिद्धों के कार्यों एवं चमत्कारों की एक झलक हम देख चुके हैं। उनमें रस रसायन, अन्तर्धान तथा अन्य कितनी ही सिद्धियों को उनके दर्शनपरक अर्थ की अपेक्षा लौकिक अर्थों में

ग्रहण किया गया है जो लोक परम्परा के लिए स्वाभाविक था। तान्त्रिक साधना का मूल सिद्धान्त था, प्रवृति द्वारा सिद्धि और मुक्ति को प्राप्त करना। इसके लिए तान्त्रिक साधक भोग से ही काम को वश में करने की चेष्टा करते थे लेकिन इस विधि पर विद्वानों में विरोधाभास जान पड़ता है। किन्तु तान्त्रिक सिद्धान्त के अनुसार ऐसा नहीं था। विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने इसे स्पश्ट करते हुए लिखा है - इस साधना द्वारा निरूपित सभी आचारों और क्रियाओं में 'भाव' को मुख्य आधार माना गया है। बाह्याचार इस भाव को या तो प्रेरणा देने के लिए या उच्चतर मानसिक स्थितियों में रूपान्तरित करने के लिए करते थे। इसी दृष्टि से शव-साधना, कुमारी पूजा, और चक्र पूजा को देखना चाहिए। *गंधवतंत्र* में कहा गया है, उपयोग की विधि तथा भावना से ही वस्तु पवित्र या अपवित्र होती है। वह स्वयं में न पवित्र है, न अपवित्र।

अनुभूतियों द्वारा प्राप्त इन सिद्धों की चमत्कार-गाथाओं के विश्लेषण करने से इन विशेष बातों का पता चलता है कि इनमें लोक-कल्याण की भावना रहती थी, ये अकाल, अनावृष्टि, अतिवृष्टि, महामारी, रोग, दारिद्रय आदि में यह जनता की सहायता करते थे। जैसा कि पहले कहा गया है कि तांत्रिक साधना का मूल सिद्धान्त है प्रवृत्ति द्वारा सिद्धि तथा मुक्ति को प्राप्त करना और वह भी कामोपयोग द्वारा। यह एक ऐसा आकर्शक सिद्धान्त था कि उसकी और इस काल के सभी प्रमुख धर्म संप्रदाय बड़ी ललक के साथ दौड़ पड़े थे। साधारणतया सभी धर्मों में भोग-प्रवृति और काम-चेष्टा को उदात्त कर्म नहीं माना गया था और उसे कल्याण एवं निर्वाण के मार्ग में प्रायः बाधक ही समझा गया था। किन्तु जब तंत्राचार्यों ने कायाकष्ट की अपेक्षा कामोपयोग द्वारा ही कल्याण और निर्वाण के प्राप्त होने की संभावना व्यक्त की, तब उनकी और साधकों का आकर्षण होना स्वाभाविक था। प्रज्ञोपायात्मक कल्पना में उन्होंने अपने समस्त तत्वज्ञान, साधनापद्धति, हठयोग, अनुष्ठान और अभिव्यक्ति को रंग डाला था, इनके पीछे सिद्धों का उद्देश्य कि विभिन्न संप्रदायों के निवृतिमूलक, दुःखदायी रूप का निराकरण कर सुख, आनंद, भावना और भोग को प्रतिष्ठा करना और वह जीवंत जो कि सहज है, प्रवृतिमूलक है, मानवीयता का निषेध नहीं करता, उसी को उन्होंने अपने ढंग से अपनी सीमाओं

के अन्दर अपनी परम्परा में प्रतिष्ठित किया। ये सीमाएं हठयोग की दुरूहतायें थी किन्तु उनके अतिरिक्त जो कुछ बचा रहता था। वह लोक मानस के निकट था। इसके लिए उन्होंने किसी भी सम्प्रदाय से विद्रोह करने में संकोच अनुभव नहीं किया।

पंचमकार के विशेष में अनेक भ्रामक व्याख्यों का पता चलता है जो इसके रूप को जर्जर करता था। प्रश्न यह उठता है कि यदि मद्य पीने मात्र से सिद्धि प्राप्त हो जाती है तो सभी दुष्ट मद्यपों को सिद्धि प्राप्त हो जानी चाहिए। यदि मांस खा लेने से ही पवित्र लक्ष्य की प्राप्ति हो जाये तो सभी मांसाहारी व्यक्ति इस विश्व में पवित्र हो जाये। यदि केवल नारी के साथ संभोग करने से ही मोक्ष प्राप्त हो तो संसार में सभी लोग मुक्ति पा जायें। लेकिन तन्त्र साहित्य से हमें पता चलता है कि इसका अनुसरण करना बड़ा कठिन है, यह तलवार की धार पर चलने से, व्याघ्र की गर्दन पर बैठने से तथा हाथ में सांप पकड़ लेने से भी अधिक भयंकर है।

इस प्रकार तान्त्रिक मार्ग सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्ति के लिए खुला था, किसी के लिए रूकावट नहीं थी परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि ऐरा-गैरा कोई भी इसमें जा सकता है। इसके लिए भी योग्यता अपेक्षित होती थी। बिना योग्य गुरु के सिखलाये कोई साधक इस विद्या में निपुण नहीं हो सकता है और न अपने तात्पर्य को ही सिद्ध कर सकता था। इसलिए तन्त्र विद्या में गुरु की अत्यधिक आवश्यकता होती थी। जिसमें गुरु प्रयोग के द्वारा अधिकारी शिष्य को शास्त्र की सत्यता का प्रमाण देकर उसे व्यवहारिक शिक्षा देता था। इस प्रकार ये मानव जीवन की सम्पूर्णता तथा समग्रता के पक्षपाती थे और इन्होंने कल्याणकारी कार्य कर लोगों की भावात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति की तथा सांप्रदायिक समूहों के लोगों के बीच आपसी लगाव पैदा किया।

पाद-टिप्पणी

1. गुयेन्थर, एच०बी०, *युगनद्ध*, पृ० 106-112
2. भट्टाचार्य, बी०, *थियोरी एण्ड प्रैक्टिस ऑफ तन्त्राज*, पृ० 2
3. बागची, पी०सी०, सं० *दोहाकोश*, पृ० 2

4. भारती, धर्मबीर, *सिद्धि-साहित्य,* पृ० 28
5. *साधनमाला,* द्वितीय खण्ड, पृ० 46
6. लामा, तारानाथ, *मिस्टिक टेलस,* पृ० 11
7. शास्त्री, हरप्रसाद, सं० *बौद्ध गान,* पृ० 21
8. सांकृत्यायन, राहुल, *पुरातत्व निबन्धावली,* पृ० 174
9. *दे न्यू इण्डियन एणिटक्वेटी,* खण्ड-1, संख्या -1
10. लामा, तारानाथ, *पूर्वोक्त,* पृ० 11-12
11. *वही,* पृ० 11-12
12. सांकृत्यायन, राहुल, *पूर्वोक्त,* पृ० 179-180
13. लामा, तारानाथ, *पूर्वोक्त,* पृ० 16
14. *वही,* पृ० 21
15. *वही,* पृ० 22-23
16. शास्त्री, हरप्रसाद, सं० *बौद्ध गान,* प्रथम संस्करण परिशिष्ट
17. लामा, तारानाथ, *पूर्वोक्त,* पृ० 56
18. सांकृत्यायन, राहुल, *पूर्वोक्त,* पृ० 185
19. *वही, पृ० 185-186*
20. लामा, तारानाथ, *पूर्वोक्त,* पृ० 56
21. शास्त्री, हरप्रसाद, सं० *बौद्ध गान,* प्रथम, परिशिष्ट
22. सांकृत्यायन, राहुल, *पूर्वोक्त,* पृ० 183

22(क) लामा, तारानाथ, *पूर्वोक्त,* पृ० 24

23. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, *नाथ सम्प्रदाय,* पृ० 77-79
24. सांकृत्यायन, राहुल, *पूर्वोक्त,* पृ० 184
25. लामा, तारानाथ, *पूर्वोक्त,* पृ० 32
26. सांकृत्यायन, राहुल, *पूर्वोक्त,* पृ० 187
27. लामा, तारानाथ, *पूर्वोक्त,* पृ० 32
28. सांकृत्यायन, राहुल, *पूर्वोक्त,* पृ० 188
29. *वहीं,* 187 तथा द्विवेदी हजारी प्रसाद, *पूर्वोक्त,* पृ० 80
30. *योगिसम्प्रदायाविष्कृति,* अध्याय-14
31. बागची, *चर्चापद,* पृ० 54

32. शास्त्री, हरप्रसाद, सं० *पूर्वोक्त,* परिशिष्ट
33. लामा, तारानाथ, *मिस्टिक टेल्स,* पृ० 28
34. शास्त्री, हरप्रसाद, सं० *पूर्वोक्त,* पदकर्तादेर परिचय, पृ० 26
35. *वही,* पृ० 26–28
36. *वही,* पृ० 28
37. भारती, धर्मवीर, *सिद्ध साहित्य,* पृ० 56
38. सांकृत्यायन, राहुल, *पुरातत्व निबन्धावली,* पृ० 186
39. लामा, तारानाथ, *मिस्टिक टेल्स,* पृ० 40–46
40. शास्त्री, हरप्रसाद, सं० *पूर्वोक्त,* पदकर्तादेर परिचय, पृ० 26
41. बागची, पी०सी०, *चर्यापद,* पृ० 73
42. सांकृत्यायन, राहुल, *पुरातत्व निबन्धावली,* पृ० 195
43. बागची, पी०सी०, *पूर्वोक्त,* पृ० 81
44. सांकृत्यायन, राहुल, *पुरातत्व निबन्धावली,* पृ० 152
45. शास्त्री, हरप्रसाद, सं० *पूर्वोक्त,* पदकर्तादेर परिचय, पृ० 30
46. सांकृत्यायन, राहुल, *पुरातत्व निबन्धावली,* पृ० 149
47. लामा, तारानाथ, *मिस्टिक टेल्स,* पृ० 46
48. *योगीसम्प्रदायाविष्कृति,* अध्याय–33 तथा टिप्पणी, पृ० 217
49. लामा, तारानाथ, *मिस्टिक टेल्स,* पृ० 21
50. शास्त्री, हरप्रसाद, सं० *पूर्वोक्त,* पदकर्तादेर परिचय, पृ० 31
51. *वही,* पृ० 35–40
52. लामा, तारानाथ, *मिस्टिक टेल्स,* पृ० 24–27
53. *साधनमाला,* खंड–2, पृ० 601
54. शास्त्री, हरप्रसाद, सं० *पूर्वोक्त,* प्रथम संस्करण, परिशिष्ट
55. शास्त्री, हरप्रसाद, सं० *पूर्वोक्त,* मुखबन्ध, पृ० 4, 10, 11
56. लामा, तारानाथ, *मिस्टिक टेल्स,* पृ० 62
57. बागची, पी०सी०, *चर्यापद* 41 तथा 43
58. लामा, तारानाथ, *मिस्टिक टेल्स,* पृ० 12, 47, 48
59. शर्मा, आर०एस०, *वही*
60. बागची, पी०सी०, *कोल ज्ञान निर्णय,* भूमिका, पृ० 53

61. *साधनमाला,* पृ० 453
62. भारती, धर्मवीर, *सिद्ध साहित्य,* पृ० 621
63. द्विवेदी, हजारी प्रसाद, *पूर्वोक्त,* पृ० 11
64. बरूआ, *अर्ली हिस्ट्री ऑफ कामरूप,* पृ० 110-120
65. *लिग्विस्टिल सर्वे ऑफ इंडिया,* खण्ड-1, भाग-1, पृ० 125-26
66. *साधनमाला,* खण्ड-2, पृ० 10-15
67. लामा, तारानाथ, *मिस्टिक टेल्स,* पृ० 11
68. भट्टाचार्य, बी०, *इंट्रोडक्शन टू बुद्धिस्ट एसोटेरिज्म,* पृ० 46
69. बाणभट्ट कृत *कादंबरी,* पृ० 234
70. *वही,* पृ० 234-235
71. भवभूति कृत, *मालती माधव,* अंक-5
72. बाणभट्ट कृत *कादंबरी,* पृ० 242
73. लामा, तारानाथ, *मिस्टिक टेल्स,* पृ० 8-11
74. मजूमदार, आर०सी०, *हिस्ट्री ऑफ बंगाल,* खण्ड-ए, पृ० 417
75. शर्मा, आर०एस०, *प्रारंभिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास,* पृ० 120-125
76. *कुलावली निर्णय,* 8-176
77. *महानिर्वाण तन्त्र,* 6-24-28
78. *कलार्णव,* पृ० 2-10
79. *वही,* पृ० 2-11
80. *महानिर्वाण तन्त्र,* 1-57
81. *शक्तिसंगम,* कालीखण्ड-3, पृ० 32
82. *पारानन्द सूत्र,* पृ० 1-3, 13
83. उपाध्याय बलदेव, *भारतीय दर्शन,* पृ० 460
84. *महानिर्वाणतन्त्र-6,* पृ० 187-188
85. उपाध्याय, बलदेव, *पूर्वोक्त,* पृ० 460
86. *वही,* पृ० 461
87. *वही,* पृ० 461
88. *गुह्यसमाज तन्त्र,* 13वां पटल, पृ० 162

89. *ज्ञानसिद्धि* - 1-18
90. काणे, पी०वी, *हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र*, पृ० 30
91. *गुह्यसमाजतन्त्र*, पृ० 19
92. धर्मवीर भारती, *सिद्ध साहित्य*, पृ० 210
93. *सेकोद्देश टीका*, भूमिका, पृ० 20
94. *प्रपञ्चसार*, 19-62, 63
95. *योगसूत्र भाष्य*, 4-1
96. *भवगतगीता*, 10-26
97. भट्टाचार्य, बी०, पूर्वोक्त, पृ० 84-89
98. *जयाख्यसंहिता*, 19वां पटल श्लोक, 13-33
99. *कुलार्णवतन्त्र*, 15-20-24
100. *ब्रह्मवैवर्त पुराण*, कृष्णजन्म खण्ड, पृ० 20
101. भट्टाचार्य, बी०, पूर्वोक्त, पृ० 20
102. *योगसूत्र*, पर टीका, 3-45
103. *साधनमाला*, जिल्द-2, पृ० 14-65
104. *प्रज्ञोप्रायविनिश्चय सिद्धि*-1, 3.9-12
105. लक्ष्मीङ्करा कृत *अद्वयसिद्धि*, पृ० 13-9-12
106. *कुलार्णव उल्लास*, 12-13
107. *शारदातिलक* 2-142-144
108. *पारानन्दसूत्र*, पृ० 5, सूत्र 12-16
109. *कुलार्णव तन्त्र*, पृ० 13-128
110. *कर्पूरमञ्जरी* श्लोक 122-124
111. *ऐतरेय ब्राह्मण* 2-3, *तैत्तिरीय संहिता* 6-1-3
112. *कुलार्णव तन्त्र*, 14-39
113. बागची, पी०सी०, *आन सम तान्त्रिक टेक्ट्स*, जिल्द 8, पृ० 37-38
114. *शक्तिसंगमततन्त्र*, पृ० 24-25
115. *वही*-17, पृ० 36-37
116. *अग्निपुराण*, अध्याय-27, पृ० 81-89
117. *ज्ञानार्णवतन्त्र*, 24, 45-46

118. *कुलार्णवतन्त्र*, 14, 3-4
119. *गुह्यसमाजतन्त्र*, पृ० 34-96
120. *गुह्यसमाजतन्त्र*, पृ० 130-168, *शारदातिलक*, पृ० 23-122, *साधनमाला*, पृ० 364-368
121. वराहमिहिर कृत *वृहतसंहिता*, साम्मत्सर सूत्र विचार, पृ० 19-75
122. कल्हण कृत*राजतरंगिणी*, 5-66
123. भट्टाचार्य बी०, *वज्रयान वर्क्स*, पृ० 22-23
124. बागची, पी०सी० का संस्करण, *कौल ज्ञान निर्णय*, पृ० 88
125. भट्टाचार्य बी०, *पूर्वोक्त*, पृ० 32
126. *हठयोग प्रदीपिका*, 3-46-48
127. अग्रवाल वासुदेव शरण का संस्करण, *पद्मावत*, पृ० 149
128. पांडे, के.सी., अभिनव गुप्त - *ऐज हिस्ट्रोरिकल एण्ड फिलास्फिकल स्टडी*, पृ० 85
129. *वही*, पृ० 41
130. भट्टाचार्य, बी०, *गुह्यसमाज की भूमिका*, पृ० 38
131. स्नलेग्राव डी० एल०, सं० द *हेवज्रतन्त्र* भाग - 1 एवं 2
132. बागची, पी०सी०, *आन सम तान्त्रिक टेक्टस स्टडीज*, पृ० 758
133. शर्मा, आर०एस०, *अर्ली मिडिवल इंडियन सोसायटी : ए स्टडी इल फ्यूडेलिज्म*, पृ० 235-265
134. शास्त्री, हरप्रसाद, *इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली*, जिल्द-9, पृ० 358
135. नंदी, रमेन्द्रनाथ, *रिलिजियस इंस्टीट्यशंस एंड कल्टस इन द डेकन*, पृ० 59

अध्याय – 3

विभिन्न सम्प्रदायों में तन्त्रवाद

भारतीयों के जीवन में धर्म की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। धर्म शब्द संस्कृत के धृ धातु से बना है, जिसका अर्थ है धारण करना या 'सम्भालना'। किसी वस्तु या अवस्तु की आत्मा या अनात्मा की विधायक वृति को उसका धर्म कहते हैं। इस शब्द का प्राचीन उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है।[1] भारतीय संस्कृति के यथार्थ बोध के लिए वेदों का ज्ञान जितना आवश्यक है उतना ही तन्त्र का भी। दोनों के मंजुल समन्वय के ऊपर ही वह शोभन वस्तु आधारित है जिसे हम 'भारतीय संस्कृति' के नाम से पुकारते हैं। वैदिक काल से ही अनेक देवी देवीताओं की पूजा की जाती थी। मौर्य एवं मौयोत्तर काल में वैदिक एवं अवैदिक धर्मों से संबंधित अनेक सम्प्रदायों को उदय हो गया था।[2] गुप्तकाल से ही पुराणों के समन्वयात्मक लोकधर्म का प्रचार और तंत्रों की आकर्षक साधना का उदय हुआ जिससे सभी धर्म सम्प्रदायों में बड़े क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए और पूर्व-मध्यकाल तक आते-आते भारतीय संस्कृति में तान्त्रिक साधनाओं का इतना व्यापक विकास हुआ कि सभी सम्प्रदाय चाहे वे वैदिक हो या अवैदिक या बौद्ध हो या जैन सभी तान्त्रिक साधना पद्धति का प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से प्रश्रय देने लगते हैं। हिन्दू धर्म में जहां पुरूष प्रधान देवताओं की उपासना की परंपरा है। वहीं आश्चर्यजनक रूप से तंत्रवाद की साधना में देवी की उपासना पर बल दिया गया और उसे स्त्री शक्ति का स्त्रोत माना गया।[3] इसी प्रभाव के कारण इस काल को बेनी प्रसाद ने भारतीय संस्कृति में तान्त्रिक काल माना है।[4]

लेकिन इस काल में सामान्य सांस्कृतिक मूल्यांकन के विषय में मतभेद

है। कुछ विद्वान इसे ह्रास और पतन का काल मानते हैं,[5] किन्तु कुछ विद्वान इसे भारतीय मानीषा की जागरूपता, कर्म"यता और प्रतिभागत उत्कर्ष काल मानते हैं।[6] एक ओर तो इस काल में पुराने ग्रंथों पर टीकाओं की परंपरा ज्यादा बढ़ जाती है और उनमें पुराने सिद्धान्तों के नये तन्त्र-परक अर्थ भी दिये जाने लगते हैं[7] दूसरी और इस काल में भारतीय धर्म प्रचारकों की पहुँच सुदूर जापान तक होती है और भारतीय चिन्तन का विदेशों में जितना आदान-प्रदान इस काल में हुआ। उतना पहले कभी किसी काल में नहीं हुआ था।

इस काल में छोटे-छोटे अनगनित सम्प्रदायों का उद्भव हुआ। जिसके मुख्य आधार किसी विशेष देवी-देवता की प्रधानता या किसी विशेष आचार-पद्धति की प्रधानता थी। इन आचार पद्धतियों के छोटे-से-छोटे सिद्धान्त पर एक नया सम्प्रदाय उठ खड़ा होता था।

निम्न जातियों में मातृदेवी की पूजा (शक्ति की पूजा)

मातृदेवी की पूजा भारत में दीर्घकाल से होती आ रही थी। *ऋग्वेद* के दशम मण्डल में एक पूरा सूक्त ही शक्ति की उपासना में लिखा गया है।[8] जिसे तान्त्रिक सूत्र भी कहा जाता है। *महाभारत* काल तक आते-आते यह शक्ति सम्पन्न देवी के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। इस काल में दुर्गा, काली, कपाली, चण्डाली, कात्यायनी आदि देवी शक्तियों को देवी के रूप में माना जाने लगा।[9] तन्त्र सम्प्रदाय में मुक्ति तथा मुक्ति की प्राप्ति एवं लोगों की तरह-तरह की भौतिक कामनाओं की पूर्ति के निर्मित अनेक प्रकार के गुह्य अनुष्ठानों का विधान किया गया। लगभग छठी सदी इसवीं की एक वैष्णव तांत्रिक रचना में तंत्र सिद्धांत चतुर्वर्ग अर्थात् अर्थ, धर्म, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति करने वाला बताया गया है। यह सिद्धान्त अर्थात् 'चतुर्वर्ग' पूजा द्वारा प्राप्त किया जा सकता था। भक्ति का अर्थ था अराध्य देव तथा गुरू के प्रति संपूर्ण समर्पण। इन दोनों को तरह-तरह के भेंट-चढ़ावे अर्पित किये जाते थे। तांत्रिक संगठनों ने गुरू या आचार्य को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया। विशाल तन्त्र साहित्य में विभिन्न तांत्रिक धाराओं तथा विविध धर्माचरणों को स्थायी और सुविन्यस्त रूप दिया। व्यवहारतः तंत्र सम्प्रदाय हिन्दु धर्म के समान ही

था। तन्त्र सम्प्रदाय की दृष्टि सर्वदा संप्रदाय-निरपेक्ष एवं भौतिकवादी थी। विभिन्न वर्गों के जीवन के जितना निकट तन्त्र संप्रदाय था उतना कोई अन्य संप्रदाय नहीं था। लेकिन शुरूआत में यह लोगों के इतना निकट नहीं था क्योंकि बाण स्वयं कादंबरी में लिखता है कि शबर लोग चंडिका को नर-मास चढ़ाते थे और उसकी पूजा रक्त तथा विभिन्न पशुओं के मांस से करते हैं। उनके इन धार्मिक कृत्यों से वह स्वयं स्तंभित था।[10] इसका जीवन पर व्यापक प्रभाव सातवीं सदी के बाद ही पड़ा, जब जनजातियों की मातृदेवी की पूजा शक्ति (हिन्दू) तथा तारा (बौद्ध) के रूप में होने लगी। इस प्रकार बौद्ध तथा ब्राह्मणीय दोनों संप्रदायों के साहित्य एवं अन्य लिखित परंपराओं में मातृदेवी को प्रमुख स्थान दिया गया।

विभिन्न क्षेत्रों में मातृदेवी के विभिन्न नाम प्रचलित थे, जिससे उनके आदिवासी मूल का भी पता चलता है। बंगाल में रचित लगभग दसवीं सदी की बौद्ध कृति *हेवज्रतन्त्र*[11] में बेताली, धास्मारी, शबरी, चंडाली और डोम्बिनी जैसी देवियों के नामों का उल्लेख हुआ है।[12] पत्र-परिधान धारिणी पर्णशबरी शबरों की एक देवी थी, जिसकी पूजा बंगाल में शबरोत्सव नामक पर्व के समय की जाती थी।[13] तन्त्र साहित्य *सिद्धपंचयिक* में शिव को शबर कहा गया है।[14] लगभग आठवीं सदी की रचना *गौड़वाहों*[15] में विंध्यवासिनी को काली या पार्वती बताया गया है और कोलो तथा शबरों से संबद्ध दिखाया गया है। हमें *हरिवंश पुराण* से मालूम होता है कि इस देवी (विंध्यवासिनी) की पूजा शबर, पुलिंद तथा बर्बर लोभ करते थे।[16]

मध्यप्रदेश के एक अभिलेख में शक्ति को मातंगील कहा गया है।[17] जिससे प्रकट होता है कि मूलत: यह देवी मातंग जनजाति की आराध्या थी। उसे चंडाली भी कहा गया है, जिससे मालूम होता है कि वह चंडालों की देवी थी। पिष्टुपुरिक देवी, जिसकी पूजा के लिए पुलिंदभट ने छठी सदी में पूर्वी मध्य प्रदेश से दो गांव दान में दिए,[18] नाम से पूलिंदो की देवी लगती है। ऐसी कुल देवियों के साथ स्थानीय ग्रामीण देवी-देवताओं का भी पूजन होता था। जिनको प्रसन्न करने के लिए टेना-टोटका भी किया जाता था। ऐसी ही एक देवी का उल्लेख है, जिसका मुख बिल्ली के समान होता था और बच्चों से घिरी रहती

थी।[19] इसी तरह एक ओर देवी की पूजा की विधि का उल्लेख *कुब्जिकातन्त्र* में आया है, जिसमें कुब्जिका देवी कुम्भकार के यहाँ उत्पन्न हुई और उसकी पूजा का विधान भी कुम्भकारों के द्वारा किया जाता था और उसमें संबंधित समस्त आचार प्रणाली को कालिकाम्नाथ नाम दिया गया है।[20]

कुलार्णवतन्त्र के अनुसार शक्ति की पूजा में उसका प्रतिनिधित्व चंडाली, चमकेरी, मागधी, रंजकी, गायकी, रजकी, शिल्पी, कौलिकी आदि करती है इन्हें तंत्र, मंत्र, योग तथा मुद्रा की दीक्षा दी जाती है ये अक्षतयौवना होती है तथा समयाचार का पालन करती है। *कुलार्णवतन्त्र* में यहाँ तक भी कहा गया है कि अगर शक्ति के पूजन में उसके प्रतिनिधित्व के लिए इन देवियों में से कोई उपलब्ध न हो तो चार वर्णों में से किसी भी कुमारी का उपयोग इस प्रयोजन से किया जा सकता है।[21]

इस सूची से स्पष्ट होता है कि इसमें मुख्यत: शूद्रों तथा अस्पृश्य जातियों के नामों का उल्लेख हुआ है और इनमें से कई नाम उनके मूल कबीलों के नाम पर पड़े हुए प्रतीत होते हैं।[22] जनजातियों से संबंधित नाम एक उत्तर-मध्यकालीन पांडुलिपि में दो सूचियों में सत्ताईश शक्ति देवियों के नाम दिए गए हैं, जिसके शीर्ष पर काली स्थित है[23] तथा इस सूची में आए भेरूंडा बंगला, त्रिपुत्र, तारा, चामुंडा आदि नाम संस्कृत मूल के प्रतीत होते हैं और इनका सम्बन्ध जनजातिय क्षेत्रों से प्रतीत होता है।[24]

पूर्व-मध्यकाल में मातृदेवी की पूजा पूरे देश में होती थी लेकिन पुराणों तथा अन्य स्त्रोतों से जिस धार्मिक भूगोल की जानकारी मिलती है, उससे प्रकट होता है कि उत्तर भारत में इसका काफी प्रभाव था जिसमें बंगाल, असम, उड़ीसा प्रमुख स्थल थे तथा बिहार में स्थित मिथिला शक्ति पूजा का गढ़ था।[25]

मध्य भारत में मातृदेवी के कई पीठों की स्थापना पूर्व-मध्यकाल में की गई। तिरूपति में तन्त्र सम्प्रदाय से संबद्ध पद्मावती का मंदिर लगभग आठवीं सदी में बनवाया गया। बालाजी का प्रसिद्ध वैष्णव मंदिर भी लगभग उसी समय बनवाया गया। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि मातृदेवी को चौंसठ रूपों में अभिव्यक्त करने वाली चौसंठ योगिनियों के लगभग सभी मंदिर पूर्वी मध्यप्रदेश तथा उड़ीसा के जनजातीय क्षेत्रों में अवस्थित है। इसमें चौसंठ योगिनियों के पांच मंदिरों की जानकारी मिलती है। इनमें से एक

जबलपुर के निकट भेड़ाघाट में, दूसरा खजुराहो में है, इन दोनों मंदिरों का आरंभ नौंवी सदी में ढूंढा जा सकता है, एक अन्य मंदिर संबलपुर के निकट उड़ीसा के भूतपर्व पटना (बोलंगीर) राज्य के रामपुर नामक स्थान में है। चौथा उड़ीसा में ही कालाहांडी जिले में है।[26] पांचवा मंदिर उत्तर प्रदेश के ललितपुर जिले के दुधई नामक स्थान में है।[27] इन मंदिरों का निर्माण जनजातीय देवियों को हिंदू धर्म में स्थान देने के लिए हिन्दुओं के तत्वाधान में पूर्व-मध्यकाल में बनवाए गए।[28]

बौद्ध सम्प्रदाय में तान्त्रिक जीवन पद्धति

सूत्रकाल में बौद्ध धर्म का उदय हुआ जिसके संस्थापक महात्मा बुद्ध थे। गुप्तकाल तक इसका काफी विकास हो गया। नालन्दा के पुरातात्विक साक्ष्यों एवं बंगाल अभिलेखों से पता चलता है कि बौद्ध धर्म इस काल तक आते-आते पूर्ण रूप से तान्त्रिक हो चुका था। इसके आधार पर ही भट्टाचार्य महोदय ने यह स्वीकार किया है कि बिना विरोधाभास ऐसी घोषणा करना सम्भव है कि बौद्धों ने ही सर्वप्रथम अपने धर्म में तन्त्रवाद का श्रीगणेश किया और हिन्दुओं ने उनसे आगे चलकर उसे उधार लिया।[29] आर०एस० शर्मा के अनुसार मगध, उड़ीसा, असम और नेपाल की बौद्ध पृष्ठभूमि के कारण इन प्रदेशों में वज्रयान तंत्र का उदय हुआ। इस तन्त्र में नये जनसमूहों को स्थान दिया गया और इसके कारण श्रेणीबद्ध महायान बौद्ध पंथ में ऐसे परिवर्तन हुए जो स्त्रियों और निम्न वर्ग के हक में थे।[29क]

मातृदेवी की पूजा देश में दीर्घकाल से होती आ रही थी किन्तु छठी सदी में बौद्धों तथा ब्राह्मणीय दोनों संप्रदायों के साहित्य एवं अन्य लिखित परंपराओं में उसने (मातृदेवी) प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया। अब जनजातियों की मातृदेवी की पूजा बौद्ध धर्म में तारा के रूप में होने लगी। इसकी अपनी मौलिकता लुप्त हो गई थी। तान्त्रिक प्रभाव के कारण महायान शाखा मन्त्रयान, सहजयान एवं वज्रयान में बंट गई थी।[30] इस समय वज्रयान शाखा सबसे अधिक प्रसिद्ध थी।[31]

वज्रयान सम्प्रदाय

वज्र इन्द्र का आयुध है और यह अश्म तथा मणि के अर्थ में भी प्रयोग होता

है। *अथर्ववेद* में वज्र के स्वामी इन्द्र का अर्थ, इन्+द्रः शत्रुओं का नाशक है और उससे प्रार्थना की गई है कि 'इन्द्र वज्रेण शीर्षाणि वृश्चतु' अर्थात् वह वज्र से शत्रुओं का शिरच्छेद करे।[32] वह शची-पति या शक्ति का पति हैं।[33] वज्र का दूसरा अर्थ मणि भी है और मणियों को अथर्ववेद में सुखः समृद्धि तथा रक्षा आदि का साधन बताया है[34] इसमें अमीवर्त नामक मणि का उल्लेख मिलता है, जिसे धारण करने से इन्द्र दिग्विजयी हुआ था। वज्रयान में बोधिसत्व को वज्री या वज्रधारण करने वाला बताया गया है जिसके भय से यमदूतादि पराजित होकर भागते हैं। *गुह्यसमाज तन्त्र* जो कि एक वज्रयान सम्प्रदाय का तन्त्र ग्रन्थ है, में वज्र शब्द के दो अर्थ बताए हैं - प्रथम ('हीरक' - हीरा) एवं मेघगर्जन (मेधध्वनि)। इसमें वज्र उस वस्तु का द्योतक है जो हीरा के समान कठोर हो। *गुह्यसमाज तन्त्र* में वज्र शब्द सैंकड़ों बार आया है - काय (शरीर), वाक (वाणी) एवं चित्त (भज) त्रिवज्र कहे गये हैं। इसकी प्राप्ति के लिए भिक्षा, तप आदि के स्थान पर मैथुन, मांस आदि के सेवन पर जोर दिया। *गुह्यसमाज तन्त्र* कई प्रकार के मांसों की अनुमति भिक्षुओं के लिए करता है जिनमें वह हाथी, घोड़ा, कुत्ते के मांस के साथ-साथ मानव के मांस का भी सेवन कर सकता है।[35] भारत की साधारण जनता में तन्त्र-मन्त्र की शक्ति के प्रति प्राचीन काल से ही विश्वास विध्यमान रहा था इन्होंने जब बौद्ध धर्म को अपनाया तो वे अपने मज्जातन्तुगत विश्वासों को कैसे दूर कर सकते थे। परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म में भी तन्त्र-मन्त्र का प्रवेश हो गया।[36] पूर्व-मध्यकाल से पहले बौद्ध संघ में जो पुरुष एवं स्त्री भिक्षु या भिक्षुणी बनने के लिए प्रव्रज्या ग्रहण करते थे, वे सब वृद्ध ही नहीं होते थे बल्कि उनमें बहुत से युवक व युवतियाँ भी प्रव्रज्या ग्रहण कर संघ में शामिल हो जाते थे। भिक्षुओं और भिक्षुणिओं को एक साथ रहने का अवसर नहीं मिलता था क्योंकि उनके संघ और विहार पृथक-पृथक होते थे। पर जो हजारों लाखों युवक-युवतियाँ प्रव्रज्या ग्रहण कर पीत वस्त्र धारण कर लेते थे, वे सब काम वासना के वशीभूत न हों, यह सम्भव नहीं था। इस प्रकार भिक्षु बन जाने के बाद भी उनमें मैथुन की इच्छा बनी रहती थी। सम्भवतः इसलिए वैपुल्यवादियों ने विशेष अभिप्राय से मैथुन की भी अनुमति प्रदान कर दी[37] और जब बाद में उन्होंने बड़ा जोर पकड़ा तब वज्रगुरु

सिद्ध बनने के लिए ऐसे उपायों का प्रयोग करने लगे जो गुहा और रहस्यमय थे जिनसे मैथुन क्रियाओं को भी प्रमुख स्थान मिला।[38]

वज्रयान सम्प्रदाय में केवल मैथुन ही प्रविष्ट नहीं हुआ अपितु तन्त्र-मन्त्र और हठयोग ने भी उसमें महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। *गुह्यसमाजतन्त्र* में योग की क्रियाओं द्वारा बुद्धत्व एवं सिद्धि प्राप्ति के लिए लघु एवं क्षिप्रकारी विधि बताई है। इसमें सामान्य[39] (अदृश्य हो जाना) एवं उतम (बुद्धत्व की प्राप्ति), दो प्रकार की विधियाँ बताई गई हैं। सामान्य सिद्धियों की प्राप्ति के लिए चार साधन उल्लिखित हैं जो 'वज्र-चतुष्क' कहे गये हैं। उत्तम सिद्धि की प्राप्ति योग के छह अंगों (प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति एवं समाधि) से ही हो सकती है।[40] शुरू में बौद्ध लोग अपने धार्मिक सूत्रों का पाठ किया करते थे, लेकिन ये पाठ लोगों को कष्टकर प्रतीत होते थे। अत: बाद में अभिष्ट फल की आशा में कुछ मन्त्रों की रचना की गई। जैसे - 'ओ, भुने भुने महाभुने स्वाहा', 'ओं आं हुं' आदि प्रकार के मन्त्र, जिनके जप से व्यक्ति अभिष्ट फल प्राप्त कर सकता था। भारत में योगिक क्रियाएँ बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव से पूर्व ही प्रचलित हो चुकी थी। इन क्रियाओं द्वारा शरीर की उन्नति और मानसिक शक्तियों के विकास में सहायता मिलती थी। साधारण जनता योगियों के प्रति श्रृद्धा रखती थी और अनेक प्रकार के चमत्कारों को देखकर चमत्कृत भी हो जाती थी। जब जनता की योग में श्रद्धा थी तो यह कैसे सम्भव था कि बौद्ध आचार्य इसकी उपेक्षा करते।

इस प्रकार धीरे-धीरे इस सम्प्रदाय में उचित एवं अनुचित, खाद्य एवं अखाद्य आदि का कोई विचार इनके सम्मुख नहीं था क्योंकि ये सब तुच्छ बातों से ऊंचे उठकर सिद्ध दशा को प्राप्त कर चुके थे।

सोपानबद्ध देवमाला का विकास

तंत्र धर्म से प्रभावित देवकुलों में पुराने देवताओं के सामंतों सेवकों, द्वारपालों एवं दिकपालों आदि के रूप में गौण स्थान दिए गए जबकि नई समाज व्यवस्था को प्रतिबिंबित करने वाले देवताओं को प्रमुख स्थान दिया गया। मंदिर के प्रदान देवता को गर्भगृह में प्रतिष्ठित किया गया और अन्य देवी-देवताओं को स्वरूप (पाश्वर्ती) कक्षों में स्थान दिया गया।

तान्त्रिक मठों एवं देवकुलों का स्वरूप उस श्रेणीबद्ध (सोपानबद्ध), सामाजिक एवं प्रशासनिक संगठन के ढंग पर तैयार किया गया, जो आठवीं सदी के आसपास सामंती व्यवस्था की विशेषता बन चुका था जिससे बौद्ध धर्म पर भी इसका प्रभाव पड़ा। इसमें पटना संग्रहालय में तारा की कई देवमालाएं कटक (उड़ीसा) से लाई गई हैं और उनका समय आठवीं से लेकर दसवीं सदी तक पड़ता है। इनमें से दो देवमालाओं का वर्णन किया जा सकता है। रत्नगिरि[41] से प्राप्त आठवीं सदी की देवमाला में तीन आकार के देवी-देवता है। तारा का आकार सबसे बड़ा है, उससे छोटे आकार के 17 देवी देवता और सबसे छोटे आकार के 12 हैं। फिर कटक[42] से प्राप्त दसवीं सदी की देवमाला में पांच आकार की प्रतिमाएं मिलती हैं- प्रथम आकार में तारा अकेली है, द्वितीय आकार की दो प्रतिमाएं हैं, जो तारा से बहुत छोटी हैं। तृतीय आकार में आठ प्रतिमाएं हैं, चतुर्थ आकार की दो प्रतिमाएं हैं और पंचम आकार की छह प्रतिमाएं हैं।

जैन धर्म

इस काल में तान्त्रिक अनुष्ठानों का प्रभाव जैन धर्म में भी देखने को मिलता है। आर०एस० शर्मा के अनुसार गुजरात, महाराष्ट्र और कर्नाटक में जैन धर्म पर तान्त्रिकों का प्रभाव था।[43] आठवीं शताब्दी के आसपास गुजरात में हरिभद्र सुरि ने *'समराइच्चकहा'* की रचना की, जो शास्त्रीय दृष्टि से तांत्रिक रचना नहीं है लेकिन तांत्रिक आचार-विचारों से ओतप्रोत है।[44] इन्द्रनंदी कृत *'ज्वालिनीकल्प'* की रचना 939 ई० सन् में पूरी हुई यद्यपि मैसूर जिले में 'द्रविड़ सम्प्रदाय' के एक तान्त्रिक आचार्य ने ज्वालिनी पूजा का प्रवर्तन 939 ई० सन् से पहले ही किया था।[45] इसी प्रकार का एक और तान्त्रिक ग्रंथ *'भैरव पद्मावती कल्प'* का संकलन किया गया।[46] इस काल में जैन धर्म के अनेक संप्रदायों का उल्लेख मिलता है, जो तान्त्रिक अनुष्ठान करते थे। यथा - हाथी - तावस - जो हाथी का शिकार करते थे, दूसरा बल-तावस जो केवल पेड़ से गिरी पत्तियों से अपना भरण-पोषण करते थे। कएडप्पिय - जो बाजीगरी के कौतुक कर जीवन यापन करते थे। उत्तर कूलग - जो गंगा के केवल उत्तरी तटों

पर रहते थे। कूलग जो केवल दक्षिणी तट पर रहते थे आदि अनेक उपसम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है।[47]

असंग के *मध्यान्तानुगम शास्त्र* के चीनी अनुवाद में जिस न-य-सि-मों सम्प्रदाय का उल्लेख हुआ है उसे प्रोफेसर उई ने *न्याय शास्त्र* बताया है जो *निगर्न्थ*[48] जैनियों की एक शाखा थी इसमें दो प्रकार की साधनाएँ बताई गई हैं, एक श्रुतज्ञान में आई आठ साधनायें - ज्योतिष, गणित, औषधि मन्त्र, यजु तथा अथर्व तथा दूसरी अनुभवजनित में आई आठ साधनायें - नक्षत्र, देवता, ग्रह की पूजा, ऋषि सुलभ तपस्या और षटकर्म जो गुह्य और तान्त्रिक थे।[49]

वैष्णव तन्त्र/पांचरात्र

आर०एस० शर्मा के अनुसार मध्यप्रदेश के कुछ हिस्सों में जहां गुप्त और गुप्तोत्तर कालों में बहुत सारे वैष्णव पुरावशेष तथा मातृदेवी की प्रतिमाएँ पाई गई है, वहाँ तंत्र सम्प्रदाय पांचरात्र के रूप में उदित हुआ और इसने वैष्णव पंथ में मातृदेवी को शामिल करके उसे नई शक्ल दी। बाद में शायद आंध्रपदेश में भी ऐसा हुआ।[50]

तन्त्रों में जो वैष्णव-शक्ति लक्ष्मी की पूजा का विधान करते हैं वे संहिता, शैव तन्त्र आगम तथा शक्ति तन्त्र कहलाते थे।[51] इनमें से *पांचरात्र संहिताओं* की परम्परा बहुत प्राचीन है और इसके सम्पादक श्रेडर का कहना है कि कुछ संहिताएं ईस्वी सदी के पहले भी विद्यमान थी तथा शेष संहिताएं या तो तान्त्रिक काल तक बन चुकी थी या बन रही थी।[52] यह भी माना जाता है कि इनके पहले भी वैखानस संहिताएँ दक्षिण भारत के मंदिरों में व्यवहृत की जाती थी। किन्तु रामानुज ने वैखानस संहिताओं का विरोध किया और उसके स्थान पर पांचरात्र संहिताओं का प्रचलन किया।[53] *महाभारत* के शांति पर्व में उल्लेख आया है, जिसमें नाराणीयोपाख्यान में सबसे पहले 'पांचरात्र' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया और महर्षि नारद ने नारायण ऋषि से इसके सिद्धान्तों को जानकर भारत के उत्तर में स्थित स्वेत द्वीप में जाकर उसका प्रचार किया।[54] *ईश्वर संहिता* के अनुसार पांचरात्र वेद का ही एक अंश है, जिसका संबंध वेद की एकायन शाखा से है।[55]

पांचरात्र के सिद्धान्त के सम्बन्ध में विद्वान एकमत नहीं है। एक ओर शंकराचार्य ने शारीरिक भाष्य में इसकी बड़ी आलोचना की है और अवैदिक घोषित किया है। परन्तु दूसरी और रामानुजाचार्य ने *श्री भाष्य* में पांचरात्र को वेदों के समान प्रमाण भूत माना है। *वैदान्त दैशिक* ने भी पांचरात्रों को वेद सम्मत स्वीकार किया। लेकिन *महाभारत* के अनुसार चारों वेद तथा *संख्या योग* के समाविष्ट होने के कारण इस मत को पांचरात्र की संज्ञा दी गई। *ईश्वर संहिता* के अनुसार पांच ऋषियों (शांडिल्य, औपगायन, मौंजायन, कौशिक एवं भारद्वाज) को पांच रात्रियों में इसका उपदेश दिया गया था। रात्र का अर्थ है ज्ञान। इसके विवेच्यविषायों परमतत्व, मुक्ति, भुक्ति, योग व विषय (संसार) के निरूपण से इस तन्त्र का नाम पांचरात्र पड़ा।

इन *पांचरात्र संहिताओं* की विषयवस्तु चारपाद में विभाजित थी - ज्ञानपाद, योगपाद, क्रियावाद तथा चर्यापाद। इनमें से ज्ञान तत्व दर्शन, योग चित्तवृत्ति - साधना क्रिया मन्दिरों तथा प्रतिमाताओं की स्थापना उसके पूजा अर्पण आदि का विधान और चर्या मंत्र-तंत्र की साधना की व्याख्या करते थे।[56] तन्त्रों की सामान्य प्रकृति के अनुसार इसमें साधना पर विशेष आग्रह था। छंद रूप में लिखित इन ग्रंथों का विधान है कि धार्मिक शोभायात्राओं के आगे मार्ग में द्रविड़ वेदों अर्थात् श्री वैष्णवो या अल्वारों के प्रबंधों का गायन होना चाहिए।[57] क्योंकि पद्यतंत्र में 45 पृष्ठों में ज्ञानपाद 11 पृष्ठों में योगपाद, 215 पृष्ठों में क्रियापाद तथा 376 पृष्ठों में चर्यापाद के विधानों का वर्णन है। क्रिया तथा चर्या प्रमुख विषयवस्तु है और ज्ञान तथा योग तो केवल पाठिका या सन्दर्भ रूप में दे दिये गये हैं।[58]

साधनापक्ष में इन संहिताओं में मन्त्र शक्ति तथा मन्त्रों का विशेष वर्णन किया गया है।[59] वाणी नारायण से उद्भूत हुई है यह वाणी प्रारंभ में एक घंटे की गूढ़ ध्वनि बिन्दु या अन्नुस्वार में परिणत हो जाती है, जिसके दो रूप है। शब्द ब्रह्म या तत्व का बोध कराने वाला शब्द और भूति या वास्तविक तत्व बिन्दु दो रूप ग्रहण करता है स्वर और व्यंजन। फिर परा, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी[60] के सिद्धान्त के अनुसार ये प्रसुप्त स्वर कुण्डलिनी के साथ उर्ध्वगामी होकर चक्रों का भेदन करते हुए कण्ठ तक पहुंचते हैं जहाँ सबसे पहले ध्वनि उत्पन्न होती है, इसी कारण 'है' विसर्ग की व्याख्या सृजन-शक्ति या सृष्टि के रूप में गई है।

यंत्र भी इन्हीं मंत्रों के ही अविभाज्य अंग थे। इन यंत्रों का स्वरूप रेखागणित के षटकोणादि के रूप में था जो वास्तव में सुदर्शन पुरूष और उसके अंतगर्त 12 व्यूहों के रेखा-रूप थे। इन को अस्त्रों तथा चक्रों के अभिचार रूप में भी प्रयुक्त किया जाता था।[61] अस्त्र अदृश्य होते थे पर समय पड़ने पर वे भयंकर रूप वाले प्राणियों का शरीर धारण कर लेते थे। उनके विकराल दांत तथा अग्निजिहाएँ होती थी और इनमें कोई दाहक सूर्य के वर्ण का, कोई लोहित वर्ण का, कोई श्वेत वर्ण का होता था और लोह फाल जैसे घातक शस्त्र उसके हाथों में रहते थे।[62]

आर०पी० चंद ने मध्यकालीन रचनाओं से अनेक अवतरण उद्धृत करके दिखाया है कि सनातनी लोग पांचरात्र को अवैदिक मानते थे।[63] *शांब पुराण* के अनुसार लक्ष्मी के पति ने पांचरात्र नामक तंत्र का प्रवर्तन वेद-विरुद्ध आचरण करने वाले लोगों के लिए किया।[64] इसी तरह *कूर्म पुराण* (लगभग दसवीं सदी की रचना) में कहा गया है कि विष्णु भक्त सात्वत अशु ने वर्णसंकरों तथा निम्नवर्ग के लोगों के बीच एक शास्त्र का प्रचार किया।[65] उसमें यह भी बतलाया गया है कि विष्णु तथा शिव ने कपाल, लगुड़, वाम प्राच्य भैरव, पाश्चात्य भैरव, पांचरात्र, पाशुपत तथा अन्य सहस्त्रों भ्रामक पंथों का प्रवर्तन किया।

आंध्र और तमिलनाडु के मंदिरों में वैष्णव तांत्रिक या तो वैखानस (तामसिक) या पांचरात्र (सात्विक) पूजन पद्धति या दोनों के मिश्रण का अनुसरण करते थे। इन दोनों में से प्रत्येक पद्धति ने अपनी अलग संहिताओं का विकास किया और इनकी पांडुलिपियां दक्षिण भारत में प्राप्त हुई है। अभी उनमें से कुछ का ही प्रकाशन हो पाया है, जो इस प्रकार हैं - *अहिर्बुधन्य संहिता, ईश्वर संहिता, कपिजल संहिता, जयाख्य संहिता, पाराशर संहिता, पाद्यतंत्र, वृहत ब्रह्म संहिता, भारद्वाज संहिता, लक्ष्मी तन्त्र, विष्णु तिलक, श्री प्रशन संहिता, विष्णु संहिता* तथा *सात्वक संहिता*।

तन्त्र धर्म के प्रभाव के कारण मन्दिरों में पुराने देवताओं को सामंत, सेवक, द्वारपाल, दिक्पाल आदि के रूप में गौण स्थान दिया गया। जबकि नई समाज को प्रतिबिंबित करने वाले शिव तथा विष्णु प्रमुख देवता बन गए और इसमें

मंदिर में प्रधान देवता को गर्भगृह में प्रतिष्ठित किया गया और अन्य देवी-देवताओं को पार्श्ववर्ती कक्षों में स्थान दिया गया। *वैखानसागम* में एक के बाद एक सात 'आवरणों' या 'प्राकारों' का विधान किया गया है। जिनमें से प्रत्येक में कई देवी-देवताओं तथा परिचरों के लिए स्थान की व्यवस्था है। ये सब के सब विष्णु के 'परिवारिक देवता' है।[66]

शैव सम्प्रदाय/शैवागम

आर०एस० शर्मा का मानना है कि इसमें कोई संदेह नहीं कि सभी क्षेत्रों में एक ही प्रकार का तन्त्र धर्म देखने को नहीं मिलता। अर्थात् तन्त्र-धर्म का स्वरूप अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग था।[67] जैसे पूर्वी भारत में बौद्ध धर्म की पृष्ठभूमि के कारण इस क्षेत्र में वज्रयान तन्त्र का उदय हुआ या विकास करने में यहायक हुआ। इसी प्रकार कश्मीर, मध्यप्रदेश, आंध्र तथा तमिलनाडु के अर्ध - हिंदू क्षेत्रों में तन्त्र शैव संप्रदाय शैवागम से प्रभावित हुआ। वैष्णव संहिताओं के समान शैवागमों की परम्परा भी बहुत प्राचीन है। ये शैवागम शिव के पाँच मुखों द्वारा लोक में प्रकट किये गये थे।[68] इन पांच मुखों से प्रकट आगमों की संख्या 28 मानी जाती है।[69] इनको शैव सिद्धान्त के नाम से भी पुकारते हैं। अन्य संप्रदायों से शैव सम्प्रदाय सबसे अधिक प्रबल था। जनसाधारण के अतिरिक्त अनेक राजवंशों ने शैव धर्म अपनाया और मंदिर बनवाए।[70] इनमें तीन पदार्थों की सत्ता मानी जाती है प्रथम पति अथवा शिव। द्वितीय पदार्थ पशु है अर्थात् वह शिवरूप जो मलादि से युक्त हो गया है। तृतीय पदार्थ पाश है जिसके चार रूप हैं मल, कर्म, माया तथा रोधशक्ति। मुक्ति का परम साधन शिल का अनुग्रह माना गया है।[71] इन आगमों के आधार पर *पद्य-तंत्र* में शिव को तीन प्रमुख सम्प्रदायों का प्रवर्तक बताया गया है। पाशुपत, शुद्ध शैव तथा कापालिक[72] तान्त्रिक शैव मतों में पाशुपत मत सम्भवत: सबसे प्राचीन है।

पाशुपत

पूर्व-मध्यकाल में यह सम्प्रदाय विशेष रूप से प्रचलित था। पाशुपत सम्प्रदाय के प्रवर्तक लकुलीश थे। जिन्हें शैव लोग शिव का अवतार मानते थे।[73] इस सम्प्रदाय ने भी तान्त्रिक आचार-विचार अपना लिये थे। लुकलीश ने

कहा है भस्म से तीन समय (प्रातः, मध्याह, सन्धा) स्नान करना चाहिए और भस्म में ही शयन करना चाहिए।[74] ह्यूनत्सांग के अनुसार जलंधर, मालवा, महेश्वरपुर इत्यादि में पाशुपत संप्रदाय प्रचलित था। उन्होंने वाराणसी में 1000 पाशुपत बताए जो महेश्वर (शक्ति) की आराधना करते, भस्म लगाते, नंगे रहते और केशों को जूड़े में बांधते थे।[75]

उज्जैन में स्थित महाकाल का मंदिर संपूर्ण देश में प्रसिद्ध था। इस मत के मानने वाले शिवलिंग की पूजा करते थे।[76] उनकी धार्मिक क्रियाएं विचित्र होती थी। जैसे शरीर में भस्म मलना, जप के बाद अट्टाहय करना, गाना, नाचना तथा हुंकार करना और शमशान के पास निवास करना। तान्त्रिक प्रभाव के कारण गुरु को विशेष महत्व दिया गया।[77] क्योंकि वही इन सभी अवस्थाओं को पार करने का मार्ग दिखाता है। स्नान, भस्मालेप, शिव, सूर्य, आचार्य की पूजा इत्यादि धार्मिक क्रियाएं निर्दिष्ट की गई।

कापालिक

तान्त्रिक प्रभाव के कारण शैव धर्म विभिन्न सम्प्रदायों में बंट गया था। इसमें से एक कपालिक सम्प्रदाय के प्रवर्तक दैव भैरव थे।[78] उन्हें भी शिव का अवतार माना गया है और देवता के रूप में इनकी आराधना करते थे तथा भैरव को नरबलि और मदिरा चढ़ाई जाती थी। गुप्त काल के पश्चात् भारत के धर्मों में उन प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव हुआ था जिन्हें स्थूल रूप से वाममार्गी कहा जाता है। शैव धर्म में कापालिक एक वाममार्गी सम्प्रदाय था। पूर्व-मध्यकाल में इस सम्प्रदाय का अच्छा प्रचार हुआ था। प्रसिद्ध महाकवि भवभूति ने (आठवीं सदी) अपने नाटक *मालतीमाधव* में 'श्री शैल' को कापालिको की प्रधान पीठ बताया है।[79] एक ताम्रपत्र के अनुसार पुलकेशियन द्वितीय के भाई नागवर्धन (सातवीं सदी) ने कपिलेश्वर के पूजन के लिए एक ग्राम दान किया था।[80]

साधना पद्धति

रामानुज के ब्रह्मसूत्र की व्याख्या में कापालिकों की साधना पद्धति का उल्लेख किया है कि ये छह मुद्राओं के विशेषज्ञ होते थे। कण्ठिका, रूचक,

कुण्डल, शिखमणि, भस्म तथा यज्ञोपवीत। वे भगासन पर बैठकर आत्मा का ध्यान करते हुए निर्वाण प्राप्त करते हैं।[81] शिव और काली इनके उपास्य थे। ये श्मशानों में विचरण करना पसंद करते थे। *हर्षचरित* में कापालिक यति भैरवाचार्य का वर्णन मिलता है। जिसने राजा पुष्यभूति के साथ श्मशान में जाकर महाकाल-हृदय नामक महामन्त्र का एक करोड़ बार जप किया था। अन्त में काले वस्त्र पहन कर, काली नकाब डाल, काला चूर्ण शरीर में मलकर शव पर बैठकर कृष्ण चतुर्दशी में बेताल साधना की थी।[82] ये शिव और काली के मन्दिरों में भी उपासना करते थे। शिव और शक्ति की आराधना के लिए मद्य-मास की बलि देना आवश्यक था। *कौलार्चनदीपिका* के अनुसार आठ प्रकार का मास देवता को तृप्त करता है गो, नर, गज, अश्व, महिप, वराह, ऊँट और सर्प। इसमें नर मास श्रेष्ठ बताया गया है।[83] इस कारण पूर्व-मध्यकाल में नरबलि का बहुत प्रचार हो गया था। *कापालिकागम* के अनुसार यह मांस अशस्त्रच्छिन्न ताजा बहते रक्त से भरा, सब अंगों से भरा और पुरुष का होना चाहिए।[84] भवभूति ने स्त्रीबलि का भी उल्लेख किया है।[85] वे ऐहलौकिक तथा पारलौकिक इच्छा की पूर्ति के लिए निम्न उपाए करते थे। जैसे - नर कपाल में भोजन करना, शरीर पर शव की भस्म लगाना, भस्म को खाना, लगुड़ धारण करना, सुरापात्र रखना, सुरापात्र में स्थित भैरव का पूजन करना।

साधना के उपाय

कापालिक मुख्य रूप से गुरु सेवा, चान्द्रयण आदि व्रत और तप द्वारा तथा तन्त्र आगमों में कहे गये विशेष आचारों का पालन करते हुए मण्डल परिवर्तन आदि मन्त्र देवी-देवता विषयक मन्त्रों का पाठ करते थे। *मतविलास* नाटक में कापालिक का वर्णन है कि ये मस्तमौजी होते थे। इनको तीन वस्तुएं बहुत प्रिय थी। कपाल, सुरा और युवती, अर्थात् - विकृत वेष धारण करना चाहिए, सुरा पीनी चाहिए तथा प्रियां के साथ विहार करना चाहिए।[86]

कापालिक भश्याभक्ष्य सभी ग्रहण करते थे। उनका विश्वास था कि मदिरापान आदि घृणित पदार्थों के भक्षण से चमत्कारिक शक्ति पैदा होती है और भक्ष्याभक्ष्य खान-पान तथा वीभत्स तांत्रिक क्रियाओं से सिद्धि तथा मोक्ष

प्राप्ति होती है।[87] किन्तु वास्तव में ये विचार मनुष्य की बुद्धि और आत्मा की पथभ्रष्टता, मतिभ्रम और नैतिक ह्रास के द्योतक है।

शाक्त संप्रदाय

शक्ति-पूजा भारत में प्राचीन काल से चली आ रही थी, किंतु पूर्व-मध्यकाल में यह बहुत व्यापक हो गई। देवताओं की शक्ति की कल्पना वैदिक काल में भी थी किन्तु इस रूप में नहीं। उस वैदिक काल में शक्ति को शची कहा जाता था। ऋग्वेद में लगभग ग्याहरय बार शक्ति का प्रयोग है और हर बार वह इन्द्र से सम्बद्ध है। पहले शची केवल इन्द्र की शक्ति थी, बाद में उसको नारी रूप में माना गया और उसे पत्नी पद इन्द्राणी दिया गया।

ऋग्वेद में शची को ही 'प्रज्ञा' कहा गया है। यह ''ज्ञ'' देवियों का वाचक है और बाद में वह वाक् का पर्याय हो गया। कहा गया है कि इसी ''ज्ञ'' से समस्त मन्त्र बने और उनके छन्द प्रकट हुए। अर्थात् वैदिक शक्तियों में वह मातृरूप, देवीत्व नहीं विकसित हुआ था, जो लोक परम्परा तथा लोकधर्म ने बाद में विकसित किया, इन शक्तियों को जगत्जननी रुप दिया गया।[88] वास्तव में शक्ति पूजा के मूल में यह दार्शनिक विचार है कि ईश्वर अपनी शक्ति की सहायता से ही सृष्टि धारण एवं संहार करता है।[89] परिणाम यह हुआ कि ईश्वरवादी संप्रदायों में शक्ति, परमदेवता की अर्द्धांगिनी के रूप में संसार में प्रचलित हो गई।[90] वेदांत के अनुसार ब्रह्म की माया ही इस सृष्टि को धारण करने वाली है अर्थात् समस्त सृष्टि माया में विद्यमान है। इस प्रकार धार्मिक भावना सपत्नीक अनुग्रहीशील देवताओं की ओर प्रवृत हुई। ये विभिन्न संप्रदायों में पार्वती, उमा, महेश्वरी, लक्ष्मी के रूप में आविर्भूत हुई। शक्ति पूजा के व्यापक प्रचलन का दूसरा कारण है अनेक जनजातियों तथा आदिवासियों का भारतीय हिंदू समाज में समाविष्ट होना। संस्कृति संक्रमण की क्रियाविधि में आदिवासियों की मातृदेवी हिंदू तथा बौद्ध धर्म में शक्ति या तारा के रूप में ग्रहण की गई।[91]

छठी शताब्दी से शक्ति-उपासना स्पष्ट एवं निरूचित रूप में दिखाई देती है और नवीं शतब्दी में तो इस मत का प्रबल प्रभाव दिखाई देता है। जनसाधारण

के धार्मिक विश्वासों का पौराणिक कथाओं पर भी प्रभाव पड़ा और बदले में इन्होंने जनसाधारण के धार्मिक विश्वासों और विचारों को प्रभावित किया। परिणामस्वरूप वैष्णवागम, शैवागम और शक्ति-तंत्रों की बड़ी संख्या में रचना हुई।[92] छठी शताब्दी से मातृ देवियों के मंदिरों को विस्तारवादी नए ब्राह्मण धर्म में नियत स्थान प्राप्त हुआ। मध्यप्रदेश और उड़ीसा में चौंसठ योगिनियों के मंदिर हैं जिनमें मातृदेवी चौसंठ रूपों में दिखाई गई है। इन चौसंठ योगिनियों के मंदिर में तीन भेड़ाघाट (जबलपुर के पास), खजुराहो तथा उड़ीसा में सम्भलपुर में है, चौथा मंदिर कालाहांडी में और पांचवा ललितपुर (उतरप्रदेश) में है, जबलपुर और खुजराहो के मंदिर 9वीं शताब्दी के हैं।[93]

इनमें (चौसंठ योगिनियों) अनेक नाम ऐसे हैं जिनसे अनेक आदिवासी उत्पत्ति का बोध होता है, जैसे शबरी, पर्णेश्वरी, विंध्यवासिनी, शाकम्बरी, भ्रामरी। कादंबरी से पता चलता है कि विंध्यवासिनी की पूजा शबर भील आदि आदिवासी लोग करते थे।[94] बंगाल में शबर जाति के लोग शबरोत्सव पर पत्तों से आच्छादित पर्णेश्वरी की पूजा करते हैं। इसी प्रकार शैद्री-भैरवी भी आदिवासियों की ही मातृदेवियां हैं। ये सभी आदिवासी देवियां दुर्गा के विभिन्न रूप मान ली गई, जैसे - लक्ष्मी।

विभिन्न सम्प्रदायों की साधना पद्धति में मूलभूत एकता

इस प्रकार कहा जा सकता है कि बौद्ध तन्त्र सम्प्रदायों में मन्त्रयान, तन्त्रयान, वज्रयान आदि भी विराट तान्त्रिक वातावरण से उद्भूत थे जो सारे भारत पर छाया हुआ था। इन सभी तान्त्रिक सिद्धान्तों में एकसूत्रता थी और उसे ये भी पहचानते और मानते भी थे तथा एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय की प्रमुख साधनाएँ गौण रूप में और कभी-कभी गौण साधनाएँ प्रमुख रूप में अपना भी लते थे। इनकी साधनाओं, देवी देवताओं, अभिचारों, पौराणिक सिद्ध पुरूषों तथा इनके सिद्धान्तों में मुक्त विनिमय हो रहा था।[95] कुछ विद्वानों का मानना है कि वज्रयान तथा हिन्दू तान्त्रिक साधनाओं में बहुत सी पद्धति साथ-साथ और समानान्तर ही विकसित हुई हैं। पाशुपत सम्प्रदाय का अमर शरीर और वज्रयान की वज्रकाया, कापालिकों का सोम तथा सिद्धों की वारूणी, लिगांग का

प्राप्ति होती है।[87] किन्तु वास्तव में ये विचार मनुष्य की बुद्धि और आत्मा की पथभ्रष्टता, मतिभ्रम और नैतिक ह्रास के द्योतक है।

शाक्त संप्रदाय

शक्ति-पूजा भारत में प्राचीन काल से चली आ रही थी, किंतु पूर्व-मध्यकाल में यह बहुत व्यापक हो गई। देवताओं की शक्ति की कल्पना वैदिक काल में भी थी किन्तु इस रूप में नहीं। उस वैदिक काल में शक्ति को शची कहा जाता था। ऋग्वेद में लगभग ग्याहरय बार शक्ति का प्रयोग है और हर बार वह इन्द्र से सम्बद्ध है। पहले शची केवल इन्द्र की शक्ति थी, बाद में उसको नारी रूप में माना गया और उसे पत्नी पद इन्द्राणी दिया गया।

ऋग्वेद में शची को ही 'प्रज्ञा' कहा गया है। यह ''ज्ञ'' देवियों का वाचक है और बाद में वह वाक् का पर्याय हो गया। कहा गया है कि इसी ''ज्ञ'' से समस्त मन्त्र बने और उनके छन्द प्रकट हुए। अर्थात् वैदिक शक्तियों में वह मातृरूप, देवीत्व नहीं विकसित हुआ था, जो लोक परम्परा तथा लोकधर्म ने बाद में विकसित किया, इन शक्तियों को जगत्जननी रुप दिया गया।[88] वास्तव में शक्ति पूजा के मूल में यह दार्शनिक विचार है कि ईश्वर अपनी शक्ति की सहायता से ही सृष्टि धारण एवं संहार करता है।[89] परिणाम यह हुआ कि ईश्वरवादी संप्रदायों में शक्ति, परमदेवता की अर्द्धांगिनी के रूप में संसार में प्रचलित हो गई।[90] वेदांत के अनुसार ब्रह्म की माया ही इस सृष्टि को धारण करने वाली है अर्थात् समस्त सृष्टि माया में विद्यमान है। इस प्रकार धार्मिक भावना सपत्नीक अनुग्रहीशील देवताओं की ओर प्रवृत हुई। ये विभिन्न संप्रदायों में पार्वती, उमा, महेश्वरी, लक्ष्मी के रूप में आविर्भूत हुई। शक्ति पूजा के व्यापक प्रचलन का दूसरा कारण है अनेक जनजातियों तथा आदिवासियों का भारतीय हिंदू समाज में समाविष्ट होना। संस्कृति संक्रमण की क्रियाविधि में आदिवासियों की मातृदेवी हिंदू तथा बौद्ध धर्म में शक्ति या तारा के रूप में ग्रहण की गई।[91]

छठी शताब्दी से शक्ति-उपासना स्पष्ट एवं निरूचत रूप में दिखाई देती है और नवीं शतब्दी में तो इस मत का प्रबल प्रभाव दिखाई देता है। जनसाधारण

के धार्मिक विश्वासों का पौराणिक कथाओं पर भी प्रभाव पड़ा और बदले में इन्होंने जनसाधारण के धार्मिक विश्वासों और विचारों को प्रभावित किया। परिणामस्वरूप वैष्णवागम, शैवागम और शक्ति-तंत्रों की बड़ी संख्या में रचना हुई।[92] छठी शताब्दी से मातृ देवियों के मंदिरों को विस्तारवादी नए ब्राह्मण धर्म में नियत स्थान प्राप्त हुआ। मध्यप्रदेश और उड़ीसा में चौंसठ योगिनियों के मंदिर हैं जिनमें मातृदेवी चौसंठ रूपों में दिखाई गई है। इन चौसंठ योगिनियों के मंदिर में तीन भेड़ाघाट (जबलपुर के पास), खजुराहो तथा उड़ीसा में सम्भलपुर में है, चौथा मंदिर कालाहांडी में और पांचवा ललितपुर (उतरप्रदेश) में है, जबलपुर और खुजराहो के मंदिर 9वीं शताब्दी के हैं।[93]

इनमें (चौसंठ योगिनियों) अनेक नाम ऐसे हैं जिनसे अनेक आदिवासी उत्पत्ति का बोध होता है, जैसे शबरी, पर्णेश्वरी, विंध्यवासिनी, शाकम्बरी, भ्रामरी। कादंबरी से पता चलता है कि विंध्यवासिनी की पूजा शबर भील आदि आदिवासी लोग करते थे।[94] बंगाल में शबर जाति के लोग शबरोत्सव पर पत्तों से आच्छादित पर्णेश्वरी की पूजा करते हैं। इसी प्रकार शैद्री-भैरवी भी आदिवासियों की ही मातृदेवियां हैं। ये सभी आदिवासी देवियां दुर्गा के विभिन्न रूप मान ली गई, जैसे - लक्ष्मी।

विभिन्न सम्प्रदायों की साधना पद्धति में मूलभूत एकता

इस प्रकार कहा जा सकता है कि बौद्ध तन्त्र सम्प्रदायों में मन्त्रयान, तन्त्रयान, वज्रयान आदि भी विराट तान्त्रिक वातावरण से उद्भूत थे जो सारे भारत पर छाया हुआ था। इन सभी तान्त्रिक सिद्धान्तों में एकसूत्रता थी और उसे ये भी पहचानते और मानते भी थे तथा एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय की प्रमुख साधनाएँ गौण रूप में और कभी-कभी गौण साधनाएँ प्रमुख रूप में अपना भी लते थे। इनकी साधनाओं, देवी देवताओं, अभिचारों, पौराणिक सिद्ध पुरूषों तथा इनके सिद्धान्तों में मुक्त विनिमय हो रहा था।[95] कुछ विद्वानों का मानना है कि वज्रयान तथा हिन्दू तान्त्रिक साधनाओं में बहुत सी पद्धति साथ-साथ और समानान्तर ही विकसित हुई हैं। पाशुपत सम्प्रदाय का अमर शरीर और वज्रयान की वज्रकाया, कापालिकों का सोम तथा सिद्धों की वारूणी, लिगांग का

सामरस्य और सिद्धों का *प्रज्ञोपाय युगनद्ध*, सिद्धों की सहज साधना और *विष्णु पुराण* की सहजसिद्धि[96] लगभग एक ही काल में हिन्दू तथा बौद्ध दोनों सम्प्रदायों में मिलती है।

इस मूलभूत एकता को दक्षिणापंथी ब्राह्मण तथा हीनयानी बौद्धों के बजाय तान्त्रिक बौद्ध और तान्त्रिक हिन्दू अधिक मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं। *पद्म तन्त्र* में पूर्वोक्त उल्लेखों के अतिरिक्त यह भी उल्लेख मिलता है कि भगवान ने विष्णु रूप में संहिताओं का उपदेश करने के अतिरिक्त ब्रह्म रूप में याकेग, कपिल रूप में सांख्य, बुद्ध रूप में शून्यवाद तथा ऋषभ रूप में अर्हत् शास्त्र का भी उपदेश दिया था।[97] बाद में *कोलावलीनिर्णय* में भी इनकी एकता प्रतिपादित की गई। हनुमान्नाटक की वन्दना में भी शिव, ब्रह्म अर्हत् तथा बुद्ध को एक माना गया। वास्तव में परवर्ती वैष्णव परम्परा में बुद्ध को अवतार मान लिया गया। इसका सूत्र यही तान्त्रिक भावना थी, जिसमें साधना प्रमुख थी और देवता गौण तथा साधना की एकता और साख्यता के कारण देवताओं की विभिन्नता पर ध्यान नहीं दिया गया। किन्तु बाद में इन सम्प्रदायों में आपसी हितों के लिए टकराव भी देखने को मिलता है। विष्णु को तथा ब्रह्म को स्थान-स्थान पर बौद्ध तन्त्रों में अपमानित करने का प्रयास किया गया है। तान्त्रिक वज्रयान में विष्णु, ब्रह्मा, शिव, इन्द्र विनाश के देवता बताए गए हैं। *हरि हरि हरि वाहनोद्भव साधन* में विष्णु को बौद्ध देवता का वाहन बताया गया है।[98] इसी प्रकार वज्रज्वालानलार्क को लक्ष्मी सहित विष्णु को मार्ची द्वारा कुचलते हुए चित्रित किया गया है। मार्ची वज्रयान की एक महत्वपूर्ण देवी थी। इससे ज्ञात होता है कि कालान्तर में बौद्धो तथा हिन्दू सम्प्रदायों में साम्प्रदायिक विद्वेष अधिक बढ़ा और अपने देवताओं को ऊँचा सिद्ध करने के लिए ऐसी कथाएँ और प्रतिमाएँ कल्पित की गई। अवलोकेतेश्वर एक मूर्ति में मार्ची को विष्णु के कन्धो पर सवार दिखाया गया है, जो ब्राह्मण तन्त्र पर अपनी विजय को दर्शाता है।[99] विष्णु पर विशेष आक्रोश का कारण सम्भवत: वैष्णव धर्म की बढ़ती हुई शक्ति थी किन्तु यथास्थान ब्रह्म, शिव, कन्दर्प, कुबेर को भी छोड़ा नहीं गया है। लेकिन ये दुश्मनी अन्य मतों में इतनी ज्यादा नहीं थी क्योंकि सभी मतों का आधार किसानों से था।[100]

भारतीय संस्कृति के यथार्थ बोध के लिए वेद (निगम) का ज्ञान जितना आवश्यक है, उतना ही तंत्र (आगम) का भी। अत: दोनों के मंजुल (मनोहर) समन्वय के ऊपर ही वह शोभन वस्तु आधारित है, जिसे हम 'भारतीय संस्कृति' के नाम से पुकारते हैं। इस प्रकार तन्त्र का ज्ञान भी अपेक्षित है। जीवन के प्रति तन्त्र की विशिष्ट दृष्टि थी, तन्त्र मानव की सम्पूर्णता तथा समग्रता का पक्षपाती था। उनके अनुसार संसार के प्रपंचों में पड़ने वाला मानव अपनी इनी-गिनी शक्तियों के विकास में ही कृतकार्य होता है। उनका चेतन मन कतिपय विचारों तथा आचारों को सुलझाने में ही व्यस्त रहता है। उसके अचेतन मन में पड़ी हुई अगाध, अपरिसीमित तथा अनुद्बुद्ध विचारधारा चेतन मन के स्तर पर आने के लिए अपने अवसर की प्रतीक्षा किया करती है। उन सबको उद्बुद्ध कर चेतन स्तर पर लाने से ही मानव की समग्रता सिद्ध हो सकती है। तान्त्रिक पूजा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर आश्रित है और इसीलिए इस युग में वह बहुत ही समर्थ उपादेय और उपयोगी मानी जाती है।

बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त, पंचरात्र वैष्णव आदि धर्म-संप्रदायों के आधार पर तन्त्रों में भी कितने भेद हैं, किन्तु साधना की दृष्टि से उनकी अनेक बातों में बड़ी समानता है। इसके कारण उनके भेदों में भी अभेदता दिखलाई देती है। इन सबमें शक्तिवाद का महत्व और पुरुष एवं स्त्री-शक्ति की एकता मान्य है चाहे उसके लिए विभिन्न नामों का प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार इन सम्प्रदायों में कुछ सामान्य प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं, जिनमें प्रत्येक सम्प्रदाय के देवता, मन्त्र और तत्व दर्शन को शब्दावली अलग-अलग होते हुए भी साधनापद्धति की समानता थी। नई साधना-पद्धतियों का एक से दूसरे सम्प्रदाय में उन्मुक्त आदान-प्रदान होता था। इनमें तत्वदर्शन गौण था, साधना, क्रिया और चर्या प्रमुख थी। साधना में गुरू का अत्यधिक महत्व था और यह साधना शिव-शक्ति, लिंग-अंग, रस अभ्रक, प्रज्ञा और उपाय आदि किन्हीं दो पुरूष तथा स्त्री प्रतीकों के अदृश की साधना थी। लगभग सभी सम्प्रदायों में इस साधना की मिथुन-परक व्याख्या मिलती है और उसके साथ गुहा आचारों का भी विधान मिलता है। इन साधनाओं में जाति-पांति वर्ण का कोई भेद नहीं था। इस साधना में शक्ति प्रधान होने का कारण स्त्री का विशेष

महत्व था। ब्रह्माण्ड में जो शिव तथा शक्ति थे वे ही शरीर में कुण्डलिनी और सहस्त्रार या कमल और कुलिश के रूप में विद्यमान थे। अतः योगसाधनाओं का विधान था और देह को बहुत महत्वपूर्ण समझा जाता था। मिथुन-साधना तथा योग के कारण निरूपण शैली प्रतीकात्मक है। लोक-देवताओं और उनके पूजन की असंस्कृत विधियों का सम्मान और उन्हें वैदिक देवताओं से भी बड़ा सिद्ध करने की चेष्टा होती थी। वेदों का असम्मान या उनकी समकक्षता प्राप्त करने का प्रयास तथा रूढ़िवादियों की उपेक्षा होती थी। मुक्ति अथवा निर्वाण की अपेक्षा साधना के द्वारा जीवनकाल में ही विभिन्न प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त कर सिद्ध बनना प्रायः सभी सम्प्रदायों में मान्य था।

इस प्रकार इन सभी संप्रदायों ने मुक्ति और भौतिक कामनाओं की पूर्ति के लिए अनेक प्रकार के अनुष्ठानों का प्रयोग किया। इन संप्रदायों में तत्वदर्शन गौण था और भक्ति दर्शन (साधना) प्रमुख था। भक्ति भाव के कारण इस काल में अनेक लोक प्रचलित देवी-देवताओं का इन संप्रदायों में समाहार किया गया। चूंकि मंदिरों का निर्माण इस काल में अधिक संख्या में हुआ और उनमें नए देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित की गई। ये प्रतिमाएँ उस श्रेणीबद्ध सामाजिक एवं प्रशासनिक संगठन के अनुरूप तैयार की गई, जो सामंती व्यवस्था की विशेषता बन चुकी थी। इनकी प्रतिमाएँ चार से सात श्रेणियों तक देखने को मिलती हैं। आचार्य के अभिषेक की व्यवस्था तो बिल्कुल सामंती अभिषेक के विधि-विधानों के अनुकरण पर की गई है। इससे स्पष्ट है कि यहाँ धर्म के मामले में लौकिक जगत के आचार-व्यवहार को अपनाया गया था।

पाद-टिप्पणी

1. गोपाल, लल्लन जी, *इकनॉमिक लाइफ इन नॉदर्न इण्डिया*, पृ० 92
2. सिंह, देवी प्रसाद, *हिन्दू समाज में परिवर्तन की प्रक्रिया*, पृ० 161
3. गर्ग, अनुपमा, *द तांत्रिक कर्स*, भूमिका, पृ० 5-7
4. प्रसाद, बेनीवाल, *हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता*, पृ० 66
5. *वही*, पृ० 67-68
6. *नागरी प्रचारिणी पत्रिका*, काशी वर्ष 1950, अंक 1, 2, पृ० 66
7. *वही*, अंक 2, पृ० 60

8. *ऋग्वेद*, 10-125
9. *महाभारत*, भीष्मपर्व, 30-23.4
10. बाणभट्ट कृत *कादंबरी*, पृ० 224-25
11. स्नेलग्रोव, डी०एल०, सं० *द हेवज्रतंत्र*, भाग-1, पृ० 14-15
12. *वही*, पृ० 10-11
13. चंद, आर०पी०, *दि इंडो - आर्यन रेसेज*, पृ० 126
14. शास्त्री, हरप्रसाद, *ए कैटेलाग ऑफ पाम-लिफ सेलेक्टेड पेपर बिलांगिग टू द दरबार लाईब्रेरी नेपाल*, कलकत्ता, पृ० LXXV
15. सरकार, डी०सी०, *द शक्ति पीट्स*, पृ० 20
16. *वही*, पृ० 20-24
17. *कापरस, इंस्क्रिप्शनम् इंडिकैरम* IV, 591, श्लोक 12-14
18. शर्मा, रामशरण, *इंडियन फ्यूडेलिज्म*, पृ० 13-37
19. चटर्जी, गौरी शंकर, *हर्षवर्द्धन*, पृ० 303
20. बागची, पी०सी०, *स्टडीज इन तन्त्राज*, पृ० 48
21. *कुलार्णवतन्त्र*, पृ० 42-45
22. शर्मा, रामशरण, *अर्ली मिडिवल इण्डियन सोसाइटी : ए स्टडी इल फ्यूडेलिज्म*, पृ० 240-45
23. चक्रवर्ती, चिंताहरण, *दा तंत्राज : स्टडीज ऑन देयर रिलीजन एंड लिटरेचर*, पृ० 86
24. *वही*, पृ० 86
25. शर्मा, आर०एस०, *पूर्वोक्त*, पृ० 235-40
26. बनर्जी, जे० एन०, *पौराणिक एंड तांत्रिक रिलिजन*, पृ० 130-131
27. प्रकाश, विद्या, *खजुराहो*, 1950, बंबई, पृ० 11
28. शर्मा, आर०एस०, *पूर्वोक्त*, पृ० 235-40
29. भट्टाचार्य, बी०, *बुद्धिस्ट इसोटेरिज्म*, भूमिका, पृ० 147

29क. आर०एस० शर्मा, *पूर्वोक्त*, पृ० 260

30. घोष, अमलानन्द, *ए गाइड टू नालंदा*, पृ० 47
31. *वही*, पृ० 47-50
32. सातवलेकर, सं० *अथर्ववेद* का स्वाध्याय, पृ० 47
33. कुमार, दास सुधीन्द्र, *शक्ति पावर*, अध्याय-1
34. *वही*, पृ० 10
35. *गुह्यसमाज तन्त्र*, छठा पटल, पृ० 26
36. *गुह्यसमाज तन्त्र*, पृ० 144, 16वां पटल, पृ० 120
37. इन्द्रभूति कृत *ज्ञानसिद्धि*, पृ० 114

38. भट्टाचार्य, बी०, पूर्वोक्त, पृ० 32,33,60,128-130
39. *गुह्यसमाज तन्त्र*, 16वां पटल, पृ० 162
40. *वही*, पृ० 163-164
41. *आर्कियालॉजिक्ल* नं0 6502
42. *वही*, नं० 3745
43. शर्मा, आर०एस०, पूर्वोक्त, पृ० 250-60
44. नंदी रमेन्द्रनाथ, *रिलिजियस इंस्टीट्यूशंस एंड कलट्स इव द डैकन (600 से 1200 ई०)*, पृ० 59
45. *वही*, पृ० 408
46. *वही*, पृ० 409
47. सेन, ए०, *स्कूल एण्ड सेक्टस इन जैन लिटरेचर*, पृ० 50
48. मजूमदार, आर०सी०, *हिस्ट्री ऑफ बंगाल*, प्रथम खंड, पृ० 411
49. *शक्तिअंक कल्याण*, पृ० 545
50. शर्मा, आर०एस०, *पूर्वोक्त*, पृ० 235-60
51. *नागरी प्रचारिणी पत्रिका* - 50, 1, पृ० 70
52. श्रेंडर, इंट्रोडक्शन टू पांचरात्र संहिता, पृ० 181
53. *वही*, पृ० 185
54. *महाभारत*, शांतिपर्व, पृ० 335-346
55. *ईश्वर संहिता*, 1.43
56. *जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल* - 1911, पृ० 951-953
57. राव, टी०ए० गोपीनाथ, *एलिमेंटस ऑफ हिंदू आइकानोग्राफी*, पृ० 57
58. श्रेंडर, पूर्वोक्त, पृ० 22
59. उपाध्याय, बलदेव, *भारतीय दर्शन*, पृ० 460
60. *द्विवेदी, कपिल देव, अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन*, पृ० 36
61. रामानुजाचार्य एम०डी०, सं० *अहि बुध्न्य सहिंता* - परिच्छेद-17, पृ० 130
62. *वही*, पृ० 131
63. चंद, आर०पी०, *दि इंडो - आर्यन रेसेज*, पृ० 99-101
64. *वही*, पृ० 100
65. *कर्म पुराण*, 8, 61
66. राव, टी० गोपीनाथ, पूर्वोक्त, पृ० 11-12
67. शर्मा, राम शरण, पूर्वोक्त, पृ० 250-52
68. *महाभारत*, अनुशासन पर्व, 141, श्लोक 5-8
69. *महाभारत*, आदिपर्व, श्लोक - 22,28

70. झा, द्विजेन्द्रनारायण, *प्राचीन भारत का इतिहास*, पृ० 396-97
71. देवराज, *दर्शन शास्त्र का इतिहास*, पृ० 483-86, उपाध्याय, बलदेव, *भारतीय दर्शन*, पृ० 545
72. श्रेंडर, *पूर्वोक्त*, पृ० 112
73. वुडरफ, जे०, *शक्ति एण्ड शाक्त*, पृ० 170
74. *वही*, पृ० 60
75. *वही*, पृ० 63
76. *वही*, पृ० 25
77. *वही*, पृ० 26
78. नान्दीमठ, एस०सी०, *हैन्डबुक ऑफ वीर शैविज्म* का प्रथम परिच्छेद
79. भवभूति कृत *मालवीमाधव*, पृ० 50
80. कुमार, कृष्ण, *प्राचीन भारत का इतिहास*, पृ० 249-50
81. रामानुज कृत *ब्रह्मसूत्र*, 2.2, पृ० 33-36
82. चटर्जी, गौरीशंकर, *पूर्वोक्त*, पृ० 335-336
83. कुमार, कृष्ण, *प्राचीन भारत का इतिहास*, पृ० 251
84. *वही*, पृ० 252
85. भवभूति कृत *मालती माधव*, पृ० 204
86. *मतविलास*, श्लोक 2
87. अऽयर, सी०वी०एन०, *दा आरिजीन एंड अर्ली हिस्ट्री ऑफ शैविज्म*, पृ० 280-81
88. दास, एस०के०, *शक्ति और डिवाइन पावर*, अध्याय-1, पृ० 4
89. सरकार, डी०सी०, *द शक्ति पीठ्स*, पृ० 20
90. *वही*, पृ० 26
91. शास्त्री, हरप्रसाद, *ए केटलॉग ऑफ पाम-लिफ एंड सेलेक्टेड पेपर मैन्युस्क्रिप्ट्स बिलोंगिग टू दि दरबार लाईब्रेरी नेपाल*, प्रस्तावना, पृ० LXVII-XIX
92. *वही*, पृ० LXVII-XIX
93. प्रकाष, विद्या, पूर्वोक्त, पृ० 11
94. पेटर्सन, पी० का संस्करण, *कादंबरी*, पृ० 224-25
95. दासगुप्ता, *आब्सक्योर रिलीजस कल्टस*, पृ० 20
96. *विष्णुपुराण*, 1-6.16
97. *कोलावलीनिर्णय*, पृ० 140
98. मैत्र आर० एल०, *संस्कृत बुद्धिस्ट लिटरेचर ऑफ नेपाल*, पृ० 95
99. राय निहाररंजन, *हिस्ट्री ऑफ दी बंगाली पिपल*, पृ० 455
100. *वही*, पृ० 455

अध्याय - 4

सामाजिक जीवन में तान्त्रिक जीवन पद्धति

पूर्व-मध्यकाल में धार्मिक संस्थाओं का विकास और उनका स्वरूप तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था से बहुत प्रभावित होता है। इसलिए सामाजिक व्यवस्था का विश्लेषण अनिवार्य है। 16वीं सदी के जिन चिन्तकों ने इतिहास के सामाजिक मूल्यांकन की नई कसौटी प्रस्तुत की है। उनमें से 'एंजेल्स' का मत अधिक वैज्ञानिक है। उनका कथन है कि मध्ययुग में समाजशास्त्र, दर्शन शास्त्र, न्याय आदि सभी कुछ धर्म साधनाओं के अंग बन चुके थे। अतः प्रत्येक सामाजिक और राजनीतिक जन-आन्दोलन उस समय धर्म साधना का रूप लेकर आता था और संसार के ऐसे धर्मों में जो जन आन्दोलन की अभिव्यक्ति बनकर आते हैं। एंजेल्स ने सर्वाधिक प्रमुखता बौद्ध धर्म को दी है। इस काल में तान्त्रिकों का समाज पर अधिक प्रभाव था। मध्यकालीन तान्त्रिक वैध तथा ज्योतिषी का भी काम करता था। उन्होंने सामान्य रोगों के साथ ही सांप, चूहे और विषैले कीड़ों के काटने तथा प्रेत-बाधाओं के निवारण के लिए अनेक अनुष्ठानों तथा उपचारों का विधान किया। ऐसा माना जाता था कि अनुष्ठानों तथा तन्त्र-मन्त्र से विष, ग्रहों तथा रोगों के कुप्रभावों का निवारण होता है। औषधियाँ मंत्रोच्चार के साथ दी जाती थी। रोगोपचारों के अलावा ये कीड़ों से अनाजों की रक्षा के उपाय भी बताते थे। ज्योतिशियों के रूप में तान्त्रिक भविष्यवाणी करते तथा ग्रहणों तथा त्यौहारों की तिथियाँ बताते थे। इसके अलावा ये वशीकरण, जान से मारने, नियंत्रित करने, सम्मोहित करने तथा पागल बनाने हेतु और मित्रता को तोड़ने के लिए जादू-टोने आदि भी बताते

थे।[1] देश के उत्तर पूर्वी भाग में अपशकुनों अथवा ग्रहों के प्रभाव को हटाने, गृह शांति के लिए बने जप-पूजा जैसे तांत्रिक अनुष्ठान किए जाते थे। पूर्व-मध्यकाल में ये प्रथाएँ इतनी बढ़ गई कि इनके कराने का खर्च बहुत बढ़ गया। इनमें से कुछ अनुष्ठान प्रायः एक माह तक चलते थे। *मत्स्य पुराण* में अपशकुनों और उनके प्रभाव को विफल करने के उपायों की लम्बी सूची पाई जाती हैं।[2] तन्त्र सम्प्रदाय में सामान्यतः स्त्रियों तथा शूद्रों की दीक्षा का व्यवस्था थी। तन्त्र में वर्णगत भेदभाव नहीं बरता गया है। तंत्र के प्रमुख प्रतिपादकों में स्त्रियों का अच्छा स्थान था। इस प्रकार वैद्यों और ज्योतिषियों के रूप में काम कर तांत्रिक आम आदमी की सामाजिक एवं भावात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे।

पुरातत्व तथा मानव जाति विज्ञान की अभी इतनी प्रगति नहीं हुई है कि उनके आधार पर गुप्तोतर या पूर्व-मध्यकाल में भू-अनुदानों के कारण ब्राह्मणों द्वारा बसाए गए इलाकों के भौतिक एवं सामाजिक जीवन के संबंध में स्पष्ट धारणा बनाई जा सकें। लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि ये इलाके विरल रूप से ही सही आबाद थे और उनमें से कुछ में इक्के-दुक्के ब्राह्मण भी रहते थे। सीमावर्ती इलाकों में ब्राह्मणों की नई बस्तियाँ बसने से पुरानी तथा नई आबादियों के बीच आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक सामंजस्य की समस्याएँ खड़ी हुई।[3] ब्राह्मण दानभोगियों के कृषि विषयक उन्नत ज्ञान से इन इलाकों में मूल निवासियों को आर्थिक लाभ हुआ। दानभोगियों को राजकीय सैन्यबल का समर्थन तो प्राप्त था लेकिन नए किसानों से अपने देयो की वसूली के लिए वे राज्य के अमलो (अधिकारियों) पर निर्भर नहीं थे। उन्हें सामान्य लोगों के साथ सामाजिक-आर्थिक संबंधों की अपनी नई व्यवस्था स्वयं विकसित करनी पड़ी।[4]

जनजातीय सरदारों तथा नए भूसंपतिधारी वर्गों को समाज में उपयुक्त स्थान देने की आवश्यकता हुई। इसलिए पूर्व-मध्यकाल के धर्मशास्त्र तथा वास्तुकला से संबंधित रचनाओं में वर्णव्यवस्था पर आधारित पुराने कठोर श्रेणी-विन्यास के स्थान पर भूसंपति, सैनिक स्थिति आदि पर आश्रित सामाजिक संगठन की प्रधानता दी गई।[5]

वर्णव्यवस्था

वर्ण शब्द की व्युत्पति संस्कृत भाषा के शब्द 'वृञ्', 'वरणे' अथवा

'वेरी' धातु से हुई जिसका अर्थ है 'चुनना या वरंण' करना। वर्ण और वरण शब्दों में साम्य भी है। सम्भवतः वर्ण से तात्पर्य वृति से है यानि किसी विशेष व्यवसाय के चुनने से। भारतीय साहित्य में वर्ण शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख 'ऋग्वेद' के पुरुषसूक्त' में मिलता है, जिसमें वर्णों की उत्पत्ति के बारे में विवरण दिया है कि ब्रह्म के मुख से ब्राह्मण की, उसके भुजाओं से क्षत्रिय की, जंघा से वैश्य की तथा उसके पैरों से शूद्र की उत्पत्ति हुई है।[6] यद्यपि ऋग्वेद में वर्ण का अभिप्राय रंग से भी लिया गया है। आगे चलकर ये चार वर्णों में बंट गए। मौर्य तथा गुप्तकाल तक वर्ण व्यवस्था के रूप में पूर्ण विकास हो चुका था।

पूर्व-मध्यकालीन साहित्यिक ग्रंथों तथा अभिलेखों से ज्ञात होता है कि इस समय समाज परम्परागत रूप से चार वर्णों में विभक्त था जो जन्म पर आधारित थे। इस समय राजनीतिक तथा आर्थिक परिवर्तन के परिणामस्वरूप समाज के ढांचे में बदलाव आया। इस काल का सर्वाधिक विस्मयकारी परिवर्तन, समाज में आत्मगौरव की भावना तथा विदेशी वस्तु से घृणा की प्रवृति थी।[7] अलबेरूनी ने इसे राष्ट्रीय चरित्र की विचित्र विशेषता बताई। उनके अनुसार यहाँ के लोग मानते हैं कि उनके राजा के समान कोई राजा नहीं, उनके जैसा कोई धर्म नहीं, उनके जैसा शास्त्र नहीं, उनके समान कोई देश नहीं, उनके समान कोई अन्य जाति नहीं।[8] इस प्रकार भारतीय समाज में गर्व की सीमा कहां तक थी, इसे अच्छी तरह से समझा जा सकता है, जिसने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र सभी को प्रभावित किया।

ब्राह्मण

हिन्दुओं के चातुवर्ण में ब्राह्मणों का स्थान सर्वोच्च था। सभी वर्गों में उनका सम्मान और आदर था तथा समाज की धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीति व्यवस्था में भी ब्राह्मणों को सर्वोपरि माना जाता था। ह्यूनसांग[9] (7वीं ई०) में अपने यात्रा वृतान्त में भारत के लिए 'ब्राह्मण देश' का प्रयोग किया है। इत्सिंग कहते हैं कि ब्राह्मण देवता के समान सम्मानित थे।[10]

पूर्व-मध्ययुगीन ग्रंथों में उद्धृत *उद्योग पर्व* के अनुदेश से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण से घृणा करना, उनका विरोध करना, उनकी संपति जब्त करना, उनको जान से मारने अथवा नुकसान पहुंचाने की इच्छा रखना, उनकी निंदा

करने में आनंदित होना, उनकी प्रशंसा को नापसंद करना, धार्मिक अनुष्ठानों में उनको याद न करना और उनकी गलती पर गुस्सा करना ये आठ संकेत किसी व्यक्ति की सन्निकट अवनित के संकेत हैं। ब्राह्मणों की अवज्ञा के लिए बुरे दिनों की भविष्यवाणी की गई और इस तरह समाज में पुरोहित व्यवस्था को फलित ज्योतिष के जरिए सुरक्षित करने की चेष्टा की गई।

भू अनुदान

अधिकतर ब्राह्मण इस काल में चिन्तक न रहकर राज्याश्रित कर्मकाण्डी पुरोहित मात्र रह गये थे। वे दान की भूमि का उपयोग करते थे। वह लोभी और कायर हो गये थे। स्वयं बाण ने हर्षचरित में कहा है कि निरभिमानी राजा और लोभरहित ब्राह्मण मिलना कठिन है।[11] इस तरह इस काल में तीर्थों व व्रतों की संख्या में बढ़ोतरी को दखेते हुए वेबर इसका कारण ब्राह्मणों का लालच मानते हुए कहते हैं कि पुजारियों की अतिलोलुपता ने भी कुछ व्रतों व तीर्थों को जन्म दिया क्योंकि अनेक धार्मिक संकल्पों को पूरा करने के लिए उनका हस्तक्षेप जरूरी था। अधिकतर व्रतों में ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता था।[12]

पुनर्जन्म की भावना और स्वर्ग एवं नरक की धारणा में विश्वास ब्राह्मणवादी लेखकों ने किया है।[13] इनके अनुसार अनेक प्रकार के धर्म, राजधर्म, वर्ण-धर्म, जाति-धर्म, पितृधर्म, पुत्र धर्म, स्त्री धर्म, पति धर्म, दास धर्म तथा इसी प्रकार के अन्य धर्मों पर निष्ठापूर्वक चलने से व्यक्ति का जन्म उच्च वर्ण और समृद्ध परिवार में होता है तथा इस विषय का बार-बार उल्लेख कर मौखिक व लिखित प्रचार के माध्यम से इसे सफलतापूर्वक लोगों के मन में बैठा दिया गया। नरक और स्वर्ग के आस्था का प्रचार भी कम प्रभावकारी नहीं रहा, पुरोहितों और मंदिरों को दिए गए भूमि-अनुदानों के अंत में राजा के उत्तराधिकारियों, पदाधिकारियों और अन्य लोगों को चेतावनी दी गई है कि यदि वे इन अनुदानों का अतिक्रमण करेंगे, इनको जब्त करेंगे अथवा इनमें बाधा डालेंगे तो उन्हें निश्चित रूप से नरक में भयंकर पाप और दुखों से आक्रांत होना पड़ेगा। स्वर्ग और नरक की आस्था फैलाने का तात्पर्य यह था कि लोग अपने वर्णानुरूप कर्त्तव्य में संलग्न रहे जिससे ब्राह्मण अपनी जीविका आसानी से चला सके।

पूर्व-मध्यकालीन दिए गए भू-अनुदानों के कारण ब्राह्मण वर्ग भू-स्वामी तथा जमींदार बन गया। इन ब्राह्मणों को अपने-अपने क्षेत्रों में अनुदान के रूप में जो गाँव मिले थे, वे उन्हीं से चिपक कर रह गये और अपने परम्परागत धर्म को स्थानीय रीति-रिवाजों से समायोजित करके आगे बढ़ने लगे। इससे गतिशीलता में कमी आई, जिसके परिणमस्वरूप ब्राह्मणों के अनेक वर्ग बन गए।[14] इसका एक मुख्य कारण मध्यदेश (ब्राह्मणीय क्षेत्र) से बाहरी क्षेत्रों के लोगों को अपनी (ब्राह्मण) धार्मिक एवं सामाजिक व्यवस्था में समायोजित करने के कार्य में वहाँ के ब्राह्मणों (जमींदार, भू-स्वामी) ने जो सफलता पाई। उससे मध्यदेश के रूढ़िवादी ब्राह्मण के निगाह में उनकी कद्र कम हो गई।[15] तेरहवीं सदी के हेमाद्रि नामक दकनी भाष्यकार ने एक पूर्ववर्ती पाठ को उद्धृत किया है, जिसमें कहा गया है कि अंग, बंग, कलिंग, सौराष्ट्र, गुर्जर, आभीर, कोंकण, द्रविड़, दक्षिणपथ, अवंति और मगध के ब्राह्मणों से दूर ही रहना चाहिए।[16] इसी प्रकार हमें *'कूर्म पुराण'* में एक बहुत महत्वपूर्ण बात का ज्ञान होता है कि तान्त्रिक सम्प्रदाय ऐसे ब्राह्मणों द्वारा प्रवर्तित थे जो रूढ़िवादी ब्राह्मणों द्वारा नीची निगाह से देखे जाते थे और जिन्होंने अपना द्विज सुलभ वेदपाठन का अधिकार खो दिया था।[17] इस प्रकार ब्राह्मणों के कई वर्ग बन गये थे जिन्हें बी०एन०एस० यादव ने 10 वर्गों में बांटा हैं इनमें 1. देवसम ब्राह्मण (नित्य स्नान, सन्धा, जपहोम, देवपूजन और अतिथियों का सत्कार करने वाले), 2. मुनि ब्राह्मण (एकान्तर व निर्जन वन में रहकर फलाहार करते हुए तप और श्रद्धा में लगे रहने वाला), 3. द्विज ब्राह्मण (वेदान्त, संख्या और योग का ज्ञाता), 4. क्षत्र ब्राह्मण (युद्ध व सैनिक वृत्ति अपनाने वाला), 5. वैश्य ब्राह्मण (कृषि, पशुपालन एवं व्यापार करने वाला), 6. शूद्र ब्राह्मण (घी, दूध, शहद, नमक मासांदि बेचने वाला), 7. निषाद ब्राह्मण (चोरी, लूट आदि में रूचि रखने वाला), 8. पशु ब्राह्मण (अज्ञानी और ब्राह्य के विषय में अनभिज्ञा रहने वाला), 9. म्लेच्छ ब्राह्मण (कुंआ, तालाब, कूप, बाग आदि को अपवित्र करने वाला ब्राह्मण) तथा 10. चाण्डाल ब्राह्मण (अत्यंत मूर्ख तथा क्रूर ब्राह्मण) आदि का उल्लेख मिलता है।[18] इतिहासकार काणे महोदय ने क्षत्र ब्राह्मण (सैनिक कार्य करने वाला) तथा निषाद ब्राह्मण (जो चोरी, लूट तथा मांस,

मछली का कार्य करने वाला) का उल्लेख किया है। इसकी तुलना में राज ब्राह्मण तथा महाराज ब्राह्मण को आदर भाव से देखा जाता था।[19] अलबेरूनी ने ब्राह्मणों को व्यवसायिक कर्मों के आधार पर चार उपवर्गों में बांटा है। इष्टिन, अवस्थों, अग्निहोत्री एवं दीक्षित आदि का उल्लेख किया।[20] पुष्कर अभिलेख तथा अन्य समकालीन अभिलेखों में ब्राह्मणों को आवसायिक, पुरोहित, द्विवेदी, त्रिवदी, मिश्र, दीक्षित तथा त्रिपाठी आदि का उल्लेख हे। इसी प्रकार बंगाल में ब्राह्मणों को शदीय, वारेंद, कुलजी और उत्तर प्रदेश में नागर, तथा कश्मीर में ठक्कर कहा जाता था।[21]

प्राचीन काल से ही समाज में ब्राह्मणों को अन्य वर्गों की अपेक्षा अधिक सुविधाएँ केवल धार्मिक क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं बौद्धिक क्षेत्र में भी थी। पूर्व-मध्यकाल में आर्थिक परिवर्तन के साथ ही ब्राह्मणों के जीवन में भी अनेक परिवर्तन हुए। इसी संदर्भ में आपतिकाल में ब्राह्मणों को जीविकोपार्जन करने के लिए राज्य सेवा, सैनिक कार्य, न्याय कार्य के साथ-साथ ज्योतिषी, कृषि व व्यापार-वाणिज्य का कार्य भी कर सकते थे।[22] *लघुवराह, नीतिसार, कृत्यकल्पतरू* में बाह्मणों के लिए अन्य अधिकारों में इन्हें अपराध करने पर प्राण दण्ड नहीं दिया जा सकता था। केवल देश निकाला दे सकते थे तथा इस समय ब्राह्मणों की हत्या महापाप मानी जाती थी।[23] इस प्रकार कहा जा सकता है कि पूर्व-मध्यकाल में नगरों के पतन, राजा तथा सामन्तों द्वारा दिए गए भूमि अनुदानों के कारण इस समय ब्राह्मणों के राजनीतिक तथा सामाजिक स्तर में प्राचीन की अपेक्षा परिवर्तन दिखाई देते हैं।[24]

क्षत्रिय

वर्ण व्यवस्था क्रम में ब्राह्मणों के बाद क्षत्रियों का दूसरा स्थान था। समकालीन लेखों ने क्षत्रियों के कर्त्तव्यों का विस्तार से वर्णन किया है। इसी संदर्भ में *पाराशर स्मृति* के अनुसार प्रजा की रक्षा करना, शास्त्र-धारण करना, दान देना, न्यायोचित दण्ड की व्यवस्था करना आदि कार्यों का वर्णन किया।[25] अलबेरूनी के अनुसार वेद पढ़ना, यज्ञ करवाना तथा प्रजा पर शासन करना और उसकी रक्षा करना, उसका धर्म था।[26]

लेकिन पूर्व-मध्यकालीन विदेशी आक्रमणों एवं राजनीतिक परिवर्तन के परिणामस्वरूप प्राचीन क्षत्रिय वर्ग लुप्त हो जाता है और उसके स्थान पर एक नए क्षत्रिय वर्ग का उदय होता है जिसे 'राजपूत' कहा गया।[27] आर०एस० शर्मा के अनुसार गुप्त और गुप्तोतर कालों में बड़ी तेजी से जातियों की संख्या बढ़ोतरी हुई जो बहुत हद तक जनजातीय इलाकों में भू-अनुदानों के कारण हुई।[27क] अधिकांश जनजातियों को शूद्रों के रूप में मिला लिया गया। *मनुस्मृति* में 61 जातियों का उल्लेख है[28] तथा *ब्रह्मवैर्वत पुराण* में 100 से अधिक जातियों का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार जनजातीय सरदारों और कुछ विदेशी शासकों को ब्राह्मण धर्मावलम्बी समाज में दूसरे दरजे के क्षत्रियों के रूप में शामिल किया गया। वे पूर्व-मध्यकाल में राजपूत कहलाए। जो विभिन्न भारतीय और बाहर से आई जनजातियों के मिश्रण से विभिन्न प्रकार के राजपूत बने।[29] कर्नल टाड ने 36 राजपूत जातियों का उल्लेख किया है।[30] विन्सेंट स्मिथ इन्हें विदेशी जातियों के वंशज कहते हैं जो अपने साथ जादू-टोने, पूजा आदि विश्वास भी अपने साथ लाए।[31] इसी कारण पूर्व-मध्यकाल में जब इन्हें हिन्दू समाज व्यवस्था में शामिल किया गया तो, ये विश्वास भी आ गये। ताम्रपत्रों तथा संस्कृत साहित्यों में इन्हें सूर्यवंशी व चन्द्र वंशी से संबंध स्थापित किया गया। *पृथ्वीराज रासो* में चन्द्रबरदाई ने राजपूतों की उत्पत्ति आबू पर्वत के अग्निकुण्ड से बताई है तथा इनको क्षत्रिय कहा है।[32] भण्डारकर महोदय ने राजपूतों की उत्पति के बारे में लिखा है कि अग्नि द्वारा शुद्ध करके राजपूत बना लिया गया।[33]

शुद्ध व अशुद्ध का विचार भारतीय (ब्राह्मणी वाली) समाज में तान्त्रिक प्रभाव के कारण ज्यादा प्रचलित हुआ। इसी कारण विदेशी जातियों को अग्नि के द्वारा शुद्ध किया गया और इनका संबंध सूर्य व चन्द्र वंश से बताया गया। वैदिक काल से ही राजकीय शक्ति को बढ़ाने और जनसाधारण द्वारा स्वीकृत कराने के लिए, राजत्तव को दैवी तत्व से संबंध किया गया। मौर्य व मौयोत्तर काल में राजा को ईश्वर के रूप में समझने की धारणा का बड़े पैमाने पर फैलाया गया। कुषाण राजाओं ने अपने को देवपुत्र कहा। गुप्त सम्राटों ने भी इस प्रथा का अनुसरण किया। लोगों को संरक्षित और सुरक्षित रखने के कारण गुप्त

राजाओं की तुलना विष्णु से की गई। इन राजाओं के संबंध में यह ध्यान देने योग्य बात है कि ये देव कहलाते हैं जिससे इनका देवताओं के रूप में स्पष्टत: प्रतिनिधित्व होता है।

लेकिन छठी-सातवीं सदियों के बाद राजाओं का संबंध सूर्यवंश और चन्द्रवंश से जोड़ा जाने लगा। उस समय तक सूर्य और चन्द्र देवताओं के रूप में माने जा चुके थे। रामायण में विष्णु के अवतार कहलाने वाले राम, सूर्यवंशी और महाभारत के प्रसिद्ध पाण्डव (पंचवीर) चन्द्रवंशी कहलाये।

पूर्व-मध्यकाल से पहले के राजाओं ने अपने वंशवृक्ष का संबंध देवताओं के साथ कभी नहीं जोड़ा। यह पहले-पहल छठी अथवा सातवीं सदी के बाद जनजातीय सरदारों के साथ हुआ। वे राजा बनकर उदारतापूर्वक ब्राह्मणों को दान देते थे और कृतज्ञ ब्राह्मण उन्हें उच्च और प्राचीन वंशावली से संबंध करते थे।[35] साथ ही राजनीतिक सत्ता को कायम या स्थाई रखने के लिए राजाओं ने तांत्रिकों का सहारा लिया। इस काल में राजा अपने दरबार में पुरोहितों के साथ एक सिद्धि (तान्त्रिक) भी रखते थे। कौटिल्य ने भी *अर्थशास्त्र*[35] में कहा है कि राजा को अपने दरबार में सिद्ध रखना चाहिए। ये लड़ाई का मैदानों में राजा के देवत्व को घोषित कर राजाओं का मनोबल ऊंचा करते थे और यह दैव विपत्तियों जैसे आग, पानी, बीमारी, दुर्भिक्ष तथा चूहों, साँपों आदि से प्रजा की रक्षा करते थे।

बाण ने *हर्षचरित* में कहा है कि लोभरहित ब्राह्मण व निरभिमानी राजा मिलना कठिन है।[36] इस प्रकार कहा जा सकता है कि क्षत्रिय भी तान्त्रिक प्रभाव के कारण कुछ अनुष्ठानों में विश्वास करने लगे थे। *अग्नि पुराण* में आया है कि युद्ध से एक सप्ताह पहले राजा को कुछ रीतियों से पूजा-अर्चना करनी चाहिए।[37] *अग्नि पुराण* में वशीकरण, जान से मारने, नियंत्रिक करने, मित्रता को तोड़ने आदि जादू-टोने बताए गए हैं। ऐसा ही उल्लेख राजा रतनसेन के बारे में जायसी में मिलता है। उन्होंने पद्यमिनी को प्राप्त करने के लिए योग साधना की ओर उनके साथ सोलह हजार राजकुमारी योगी बनी।[38]

तजा राज राजा भा जोगी, ओ किगरी कह गहे वियोगी
राय राने सब भये वियोगी सोरह सहम् कुंवर भये जोगी।

राजनीतिक सत्ता को कायम रखने में फलित ज्योतिषियों की भूमिका महत्वपूर्ण थी। वे विजय अभिमान के लिए निमित दिन और लग्न नियत करते थे। हर्ष के विजय अभियान के लिए उन्होंने निश्चित दिन निर्धारित किया था।[39] इसलिये ये सैन्य दल की तरह प्रभावी और उपयोगी होते थे। साथ ही साथ, वे राजनीतिक विद्रोहों और जन उत्तेजना फैलाने वालों के लिए अशुभ परिणामों की भविष्यवाणी कर ऐसी घटनाओं को रोक सकते थे। वे दोषियों का पता लगाने की अपनी गुप्त क्षमता के द्वारा चोरियों को भी रोक सकते थे। इस प्रकार फलित ज्योतिषी पुलिस और सैनिकों दोनों को अधिक कारगर बनाते थे।

छठीं एवं सातवीं सदी के राजाओं ने दरबारों में ऐसे चाटुकारों (पुरोहित, कवि, ज्योतिषी, वैद्य-सिद्ध) को संरक्षण या प्रश्रय दिया, जिनकी नजर अपने संरक्षकों की केवल विजय और विशेषताओं पर ही पड़ती थी, उन्हें संपोषकों की दुर्बलताएँ और असफलताएँ नहीं सूझती थी। ऐसे प्रचार व प्रसार के कारण ही अलबेरूनी ने कहा है कि यहाँ के लोगों का मानना है कि हमारे जैसा कोई देश नहीं, हमारे राजा जैसा कोई राजा नहीं, हमारे धर्म जैसा कोई धर्म नहीं, हमारी जाति जैसी कोई जाति नहीं, हमारे शस्त्र जैसा कोई शस्त्र नहीं। इसलिए पूर्व-मध्यकाल में बहुत बड़े प्रशस्ति साहित्य का सृजन इसलिए किया गया ताकि प्रजा राजाओं की कालजयी अजेय शक्ति की कायल बने।

वैश्य

गुप्तकाल में वैश्यों के कर्तव्यों में कृषि, पशुपालन, व्यापार, वाणिज्य एवं साहूकारी आदि बताए हैं।[40] परन्तु पूर्व-मध्यकाल में राजनीतिक विकेन्द्रीकरण, नगरों का पतन आदि के कारण दूसरे व्यवसाय भी अपनाने लगे थे। समकालीन स्मृतिकारों ने भी वैश्य के कार्यों में कृषि, पशुपालन, व्यापार-वाणिज्य का वर्णन किया है।[41] इसी संदर्भ में ह्यूनसांग ने वैश्यों में कृषक, पशुपालक एवं शिल्पकारों को भी सम्मिलित किया है। परन्तु सर्वाधिक संख्या इनमें व्यापारियों की थी।[42] इतिहासकार ए०एस० अल्तेकर का मानना है कि बौद्ध, जैन तथा वैष्णव धर्मों के प्रतिपादित सिद्धान्त के प्रभाव से वैश्यों ने सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए कृषि कर्म तथा पशुपालन को छोड़कर व्यापार को अपनी आजीविका का साधन बना लिया।[43]

व्यापारी पूर्व-मध्यकाल में अधिक से अधिक धन कमाने की लालसा रखते थे। इसके लिए वे जादू-टोनों का भी प्रयोग करने लगे थे। अलबेरूनी ने एक निर्धन फल विक्रेता तथा राजवल्लभ की कथा का उल्लेख किया है - जिसने जादू-टोने से नगर को मोल ले लिया तथा जब वह नगर राजा ने लेना चाहा तो फल-विक्रेता ने इन्कार कर दिया। इस प्रकार वह जादू विद्याओ से नगर का स्वामी बन गया था।[44] चूंकि वैश्य वर्ग पर बौद्ध, जैन तथा वैष्णव धर्म का काफी प्रभाव था तो वैश्य भी सम्भवत: तान्त्रिक आचार-विचार में विश्वास रखते थे। *नारद स्मृति*[45] से मालूम होता है कि जब समूहों द्वारा किये जाने वाले कार्यों के संबंध में यदि यह समझा जाए कि राजा द्वारा वे अवश्य ही स्वीकार्य होगें तो क्या वे समूह परस्पर मिलकर यह भी निर्णय कर सकते हैं कि हम प्रजा को राजकीय कर देने से रोकेंगे, हम नंगे रहा करेंगे, जुआ खेला करेंगे, वेश्यागमन किया करेंगे या राजपथ पर वेग से दौड़ा करेंगे। इस प्रकार इसमें कोई संदेह नहीं है कि राजा का श्रेणि समूहों पर नियन्त्रण था। किन्तु समाज में कुछ क्रिया गुप्त रूप से की जाती थी। समाज का जादू-टोने, तंत्र-मंत्र, ताबीज, झाड-फूंक आदि में दृढ़ विश्वास हो गया था।

कुमार गुप्त प्रथम के समय के अभिलेख में पटकारों की एक श्रेणी का उल्लेख है जो लाट (गुजरात) देश से आकर दशपुर में बस गई थी। दशपुर में बस जाने पर श्रेणि के अनेक सदस्यों ने अपने वंश क्रमानुगत शिल्प का परित्याग कर ज्योतिष, धनुर्विद्या तथा अन्य विधाएँ सीखी और उनमें से कुछ व्यक्ति सिद्ध बनकर धार्मिक जीवन व्यतीत करने लगे।[46] व्यापार-वाणिज्य की अवनति तथा कृषि एवम् पशुपालन पर आधृत ग्राम अर्थव्यवस्था के विकास से वैश्यों की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति बिगड़ गई।[47] आर०एस० शर्मा के अनुसार भू-अनुदानों के कारण वैश्य किसानों की स्वतन्त्रता जाती रही और उनके ऊपर अनुदान भोगियों का आधिपत्य जमने लगा।[48] अतएव गुप्त युग के बाद वैश्य और शुद्र आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से एक दूसरे के अधिकाधिक निकट आने लगे। वैश्य और शूद्र दोनों किसान कहलाते लगे।[49] तान्त्रिक विचार कृषकों एवं व्यापारियों के दैनिक जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। उनकी भविष्यवाणियाँ प्राय: जीवन के प्रत्येक पहलू और समाज के प्रत्येक

क्षेत्र के लिए होती थी। कौलिकों ने (जुलाहे ने) अपने धन लाभ की कामना के लिए तथा समाज में सम्मान प्राप्ति के लिए दान व मन्दिरों का निर्माण करवाया। *वृहतसंहिता* के मार्ग विधान कथा में आया है कि यदि चन्द्र पक्ष कुछ-कुछ उन्नत होकर नौकर के सदृश विशालता को प्राप्त हो तो उस समय नाविकों को हानि होती है। उनके धन लाभ का भी उल्लेख मिलता है।[49क] पूर्वी भारत में कृषि पर लिखित '*कृषि पाराशर*'[50] नामक ग्रन्थ में किसानों के लिए कृषि संबंधी मंत्र-तंत्र और जादू-टोने का विस्तृत वर्णन है। इसमें पहली बार हल चलाने,[51] बीज बोने[52] के लिए शुभ अवसरों और अनुष्ठानों की चर्चा है। इसमें एकाएक मेंढकों का बोलना, मौंरो का नाचना, चीटियों का अंड़ों के साथ बाहर आना और सांपों का पेड़ों की चोटी पर चढ़ना, सन्निकट[53] वर्षा के सूचक बताए गए हैं। इसके विपरीत बैलों अथवा हल के विभिन्न भागों पर अनिष्ट होना अपशकुन माना गया है। इसमें कहा गया है कि वे किसान, उसकी पत्नी, उसके पुत्र और भाई की मृत्यु और कृषि के ह्रास[54] के संकेत हैं। फिर भी बैलों का चित्कारना और पेशाब करना शुभ माना गया है और इससे अच्छी उपज[55] होने के संकेत बताए गए हैं। इस प्रकार किसान समाज में तान्त्रिक आचार-विचार व्यापक रूप से प्रचलित थे। किसान अपने शादी-विवाह की तिथि भी ज्योतिषियों के द्वारा निकलवाते थे। महिलाएं इनसे प्रत्येक मास होने वाले मौसमी पर्वों की ठीक-ठीक तारीखों की जानकारियाँ लेती थी। इसी प्रकार ओझा-गुणी सिद्ध किसानों को कुएं और तालाब खोदने के लिए उपयुक्त स्थान चुनने में मदद करते थे।[56]

शूद्र

वर्णव्यवस्था तथा सामाजिक व्यवहार क्रम में शूद्र का चौथा स्थान था। समाज में उसकी स्थिति अत्यंत हेय और दयनीय थी। द्विजातियों की सेवा कार्य का भार उसके ऊपर था। वैदिक युग की तरह पूर्व-मध्यकाल में भी इसकी उत्पत्ति विराट पुरूष के पैरों से हुई। अलबेरूनी ने भी इसका उल्लेख किया है। गुप्त काल तक इनकी स्थिति दयनीय रही। *परमार अभिलेखों*[57] में शूद्रों का कोई उल्लेख नहीं मिलता। चूंकि इसकी कोई आवश्यकता नहीं रही होगी। इससे यह अनुमान लगा सकते हैं कि वे इस काल में वर्ण से नहीं बल्कि अपने

व्यवसाय से जाने जाते थे। जिसमें स्वर्णकार, स्थपति, सूत्रधार, काष्टकार, तैलिक, रथकार, रूपकार, माला गूथने वाले, शक्कर बनाने वाले बताए गए तथा *शृंगारमंजरी* कथा में वैद्यों, कृषकों, लोहकारो के अतिरिक्त, भाग्य बताने वाले शकुनिक, इन्द्रजाल विद्या एवं सम्मोहन विद्या में प्रवीण आदि लोगों का उल्लेख भी मिलता है।

लेकिन पूर्व-मध्यकाल में तान्त्रिक प्रभाव के कारण इनकी स्थिति में सुधार हुआ। तन्त्र सम्प्रदाय में सामान्यत: शूद्रों तथा स्त्रियों की दीक्षा की व्यवस्था की गई[58] तथा शूद्र आचार्य शद्रों तथा चाण्डालों को दीक्षा दे सकते थे और कुछ यज्ञ भी संपादित कर सकते थे। इसका प्रमाण हमें नवीं शताब्दी में *मनुस्मृति* के टीकाकार मेधातिथि की टिप्पणी में साफ दिखाई देता है। जब वह शूद्रों को निजी संपति का अधिकार, तीनों उच्च वर्णों की सेवा से मुक्त तथा वैदिक मन्त्रों के बगैर संस्कारों का सम्पादन आदि के करवाने का उल्लेख करता है।[59] इसके अतिरिक्त जैन धर्म, बौद्ध धर्म, शैव धर्म के सुधारवादी आन्दोलनों ने शूद्रों का खुलकर आत्मीयता के साथ स्वागत किया तो इन लोगों के सम्मान में वृद्धि होने लगी।

आर०एस० शर्मा का मानना है कि गुप्त और गुप्तोतर कालों में बड़ी तेजी से जातियों की संख्या बढ़ी, ऐसा जनजातिय इलाकों में भू-अनुदानों के कारण हुआ। जिसमें अधिकांश जनजातियों को शूद्रों के रूप में हिंदू प्रणाली में शामिल किया गया। इन जनजातियों को ब्राह्मणवादी व्यवस्था में उचित स्थान दिलाने के लिए उनकी मातृसत्तात्मक परम्पराओं, पारिवारिक रीति-रिवाजों तथा उनकी मानसिक व अध्यात्मिक जरूरतों के लिए उनकी पारम्परिक मान्यताओं को शामिल किया। जिसके कारण धर्मशास्त्रों के विवाह संबंधी नियमों में नई व्यवस्थाओं का समावेश करना पड़ा। प्रशासन के विभिन्न स्तरों पर स्त्रियों के उच्च स्थान को स्पष्ट रूप से मान्यता प्रदान की गई, कुछ खास परिस्थितियों में विधवा-विवाह की अनुमति दी गई तथा स्त्री धन के दायरे को बढ़ाया गया।

शूद्र मुख्य रूप से शक्ति की पूजा करते थे, बाण ने *कादंबरी* में उल्लेख किया है कि शबर लोग चंडिका को नर-मांस चढ़ाते हैं और उसकी पूजा रक्त

तथा विभिन्न पशुओं के मांस से करते हैं।[60] ये धार्मिक कृत्य मातृदेवी (शक्ति) को प्रमुख स्थान दिलाने वाले तंत्र संप्रदाय के अभिन्न अंग बन गए। इसी प्रकार *हरिवंश पुराण* से मालूम होता है कि देवी की पूजा शबर, पूलिंद तथा बर्बर लोग करते थे।[61] मध्य प्रदेश के एक अभिलेख में शक्ति को मातंगी कहा है।[62] जिससे प्रकट होता है कि यह मातंग जनजाति की अराध्या थी। उसे चंडाली भी कहा गया है। इस प्रकार बारहवीं-तेरहवीं सदियों की कृति *जयद्रयमल*[63] में कहा गया है कि परमेश्वरी (काली) की पूजा के लिए तेलियों तथा कुम्हारों के घरों में जाकर उनके सान्निध्य में पूजा करना आवश्यक है।

कुलार्णवतन्त्र के अनुसार शक्ति की पूजा में उसका प्रतिनिधित्व चंडाली, चर्मकारी, मागधी, शास्त्रजीवी, कौंचिकी, कौलिकी, शौंडिकी, गायकी, रजकी आदि करती है। इन्हें तन्त्र, मन्त्र, योग तथा मुद्रा की दीक्षा दी जाती है। ये अक्षतयौवना होती है तथा समयाचार का पालन करती है। इस सूची में शूद्रों तथा अन्य जातियों के नाम आए हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि जब निम्न जातिय लोगों को ब्राह्मणवादी प्रणाली में शूद्रों के रूप में शामिल किया गया तब उनके पारंपरिक रीति-रिवाज भी ब्राह्मणीय समाज में आ गए, जिनके लिए दीक्षा का द्वार खोलकर उनके सामाजिक दर्जे में सुधार किया तथा काश्तकारों के रूप में जमीन में उनके भी कुछ अधिकार और हित कायम किए गए। हालांकि उसमें ब्राह्मणों तथा अन्य दानभोगियों को वरीय अधिकार प्राप्त थे।

नारी

वैदिक काल में भारतीय समाज में नारी की दशा अच्छी थी, जहाँ नारी को पुरूष की अर्द्धांगिनी के रूप में स्थान दिया गया है, जिसमें बिना किसी भी कर्तव्य की पूर्ति नहीं की जा सकती थी। उनको शिक्षा का अधिकार प्राप्त था।[64] लेकिन मौर्य तथा गुप्तकाल में भारतीय समाज में नारी की स्थिति में गिरावट आ गई। इनको समस्त अधिकारों से वंचित कर दिया गया तथा उनकी स्वच्छंदता पर अनेक प्रकार से प्रतिबंध लगा दिये गये। कौटिल्य ने *अर्थशास्त्र* में कहा है कि महिला-पुरूष की अनुपस्थिति में किसी दूसरे पुरूष से बात करें तो उसे दो पण दण्ड तथा उसकी अनुमति के बिना दूसरे के घर जाए तो उसे चार पण का

दण्ड दिया जाए।[65] *मुनस्मृति* में यहां तक कहा गया है कि स्त्री कभी भी स्वतन्त्र रहने के योग्य नहीं है, अविवाहित होने पर पिता, युवावस्था में पति और वृद्धावस्था में पुत्र ही उसका संरक्षक है।[66] लेकिन गुप्त एवं गुप्तोतर काल में राजनीतिक तथा आर्थिक परिवर्तन के कारण समाज में नारी की स्थिति में भी परिवर्तन दिखाई देता है। जिनमें विधवा-विवाह की अनुमति, स्त्रीधन के दायरे को बढ़ाया गया, दीक्षा का अधिकार आदि मुख्य परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं। आर०एस० शर्मा के अनुसार ये परिवर्तन पूर्व-मध्यकाल के दौरान ब्राह्मणीय सामाजिक व्यवस्था में कबायली लोगों के बड़ी संख्या में शामिल होने के परिणाम जान पड़ते हैं।[67] तन्त्र सम्प्रदाय में वर्ण, लिंग, धर्म, जाति आदि के भेदभाव के बिना तंत्र का चक्र सबके लिए खुला था और इसमें स्त्रियों को भी बराबर का अधिकार था।

कबायली लोगों के बड़ी संख्या में ब्राह्मणवादी परम्परा में शामिल होने के कारण महिलाओं का जादू-टोन एवं विभिन्न तान्त्रिक अनुष्ठान में विश्वास की भावना बढ़ी। विज्ञानेश्वर[68] ऐसी स्त्रियों से बचने की सलाह देता है जो धूर्त, वैश्या, अभिसारिणी, संन्यासिनी, भाग्य बताने वाली और जादू-टोनों आदि में विश्वास करती हैं, उनके साथ न रहें। इससे स्पष्ट होता है कि इस काल में अधिकतर महिलाएं तान्त्रिक अनुष्ठानों में विश्वास करती थी। इतिहासकार महिलाओं में ऐसे अंधविश्वासों में बहुत सारे कारण बताते हैं। तान्त्रिकों के अनुसार पूर्णता का प्रत्यक्षीकरण सभी मानवीय अनुभूतियों में अत्यन्त आनन्ददायक अनुभूति है और मनुष्य की अनुभूति तब तक पूर्ण नहीं हो सकती, जब तक उसे स्त्रीत्व की अनुभूति न हो जाये। वह अपने कुल के सभी स्त्री-सदस्यों से स्त्रीत्व की अनुभूति प्राप्त कर सकता है। महिला एवं पुरूष दोनों तान्त्रिक अनुष्ठान करते थे। इसकी जानकारी चक्रपूजा (घेरे में होने वाली पूजा) से मिलती है, जिसमें बराबर संख्या में पुरूष एवं नारी, बिना जाति भेद के, यहाँ तक कि सन्निकट रक्त सम्बन्धी जन भी गुप्त रूप से रात्रि में मिलते हैं और एक वृत में बैठते हैं।[69] एक चित्र के रूप में देवी चित्रित होती है। चक्र का एक नेता होता है, नियम ऐसे थे कि केवल वीर स्थिति में कुशल व्यक्ति ही सम्मिलित किए जाते थे।[70] कुलार्णव ने अपनी सम्मति दी है कि कि चक्रपूजा

गुप्त रीति से होनी चाहिए। इसमें जो कुछ भला या बुरा होता है उसे जनता में कभी नहीं कहना चाहिए। इस प्रकार स्त्री भी तान्त्रिक पूजा पाठों में भाग लेती थी।

पुत्र प्राप्ति के लिए तान्त्रिक अनुष्ठान

पूर्व-मध्यकाल में महिलाओ में तान्त्रिक अनुष्ठानों में गहरा विश्वास हो चुका था। महिलाएं अपनी मनोकामनाओं के लिए विभिन्न अनुष्ठान करती थी। बाण ने पुत्र की इच्छा रखने वाली रानी विलासवती की धार्मिक क्रियाओं का उल्लेख किया है जो चण्डिका के मंदिर में शयन करती, जहां लगातार गुगल जल रहा था। राहों में अमावस्या की रात्रि में स्नान करती, जहां जादूगरों, ओझाओं ने ऐन्द्रिजालिक वृत खींचे हुए थे, माताओं के मन्दिरों में जाना तथा रक्षाकरंड धारण करना, जिसके भीतर भूर्ज पत्रों की जड़ी-बुटियों एवं यन्त्रों से शुद्ध करना आदि क्रियाओं को किया।[71] इसके अलावा बाण ने राजा दशरथ के वृद्ध हो जाने पर भी चार पुत्र प्राप्ति का वर्णन भी *कादंबरी* में मिलता है।[72]

बच्चों की रक्षा के उपाय

नवजात बच्चों की रक्षा के लिये भी महिलाएं इस काल में तरह-तरह के अनुष्ठान करती थी। बालक की रक्षा के लिए अग्नि में जलते हुए नीम के पत्तों में से धूमकी गंध फैलाई जाती तथा ब्राह्मण मंत्र पाठ करके शान्ति के लिए जल छिड़कने आदि के उपाए भी बाण ने बताए हैं।[73]

पूर्व-मध्यकाल में ऐसी महिलाओं का उल्लेख आया है जो तन्त्र-मन्त्र सीखना चाहती थी। मालती माधव की एक भिक्षुणी 'सौदामिनी' तन्त्र-मन्त्र सीखने के लिए 'श्री पर्वत' पर गई थी, जहां उसने एक कापालिकों के व्रतों (नियमों) का पालन किया और मन्त्रों के बल पर अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त की। श्री पर्वत के संबंध में तत्कालीन समाज में यह प्रसिद्धि थी कि यहां हर प्रकार के मनोरथ सिद्ध हो जाते थे।[74]

तान्त्रिकों में जनजातीय क्षेत्रों में जहां मातृदेवी की पूजा का व्यापक प्रचलन था, वहाँ स्त्रियों की अवस्था मर्दों की तुलना में उतनी खराब नहीं थी जितनी की

ब्राह्मणीय व्यवस्था में, इसमें स्त्रियों को शूद्रों के समकक्ष स्थान दिया गया था। इसलिए स्वाभाविक था कि शूद्रों के कर्मकांड़ी दर्जे में सुधार के साथ महिलाओं को ऊपर उठाया जाए। ऐसा हिन्दू समाज में आदिवासियों का समावेश उनके अपने देवी-देवताओं तथा धार्मिक अनुष्ठानों को स्वीकृति प्रदान करके ही किया जा सकता था जिसकी प्रारंभिक प्रतिक्रिया प्रतिकूल ही रही। बाण शबर जाति की धार्मिक कृत्यों से स्तंभित था। जिससे मालूम होता है कि सातवीं सदी तक विध्यं क्षेत्र में ब्राह्मण उन्हें पसंद नहीं करते थे।[75] किन्तु ये धार्मिक कृत्य मातृदेवी को प्रमुख स्थान प्रदान करने वाले तन्त्र सम्प्रदाय के अभिन्न अंग बन गए।

पूर्व-मध्यकाल में कृषि का काफी विकास हुआ। इसमें महिलाओं की महत्वपूर्ण भूमिका समझी जाती है। भारत तथा अन्य देशों के आदिम जनों के मनोवैज्ञानिक अध्ययनों से प्रकट होता है कि कामानुष्ठान उनके कृषि विषयक जादू-टोने का महत्वपूर्ण अंग थे। ऐसी मान्यता थी कि इनसे धरती की उर्वरा शक्ति और लोगों की समृद्धि बढ़ती है। चूंकि खेतीबाड़ी के काम की देखरेख मूलत: और खासकर बागवानी वाली अवस्था में स्त्रियां करती थी। इसलिए इस कोटि के धर्माचारों का उद्भव और विकास केवल उन्हीं के हाथों हुआ।[76]

समाज में ज्योतिष और शकुन विचार

समाज में ज्योतिष के प्रति अभिरूचि भारतीय चरित्र की ही अनूठी विशेषता नहीं है, बल्कि प्राचीन और मध्यकाल के सभी समाजों में शकुन विचार व्यापक रूप से प्रचलित रहा है।[77] चीन में भविष्य सूचक हड्डियों के पढ़ने का रिवाज सुविदित है।[78] इसी प्रकार बेबीलोन में ऐसे अनेक रिवाज थे। पर भारत की विशिष्टता है कि यहां शकुन-विचार अभी तक जोरों से चल रहा है। यह केवल किसानों में ही नहीं बल्कि शहर के लोगों में भी लोकप्रिय है। लेकिन प्राचीन व मध्यकालमें यह विश्वास कैसे फैला। आर०एस० शर्मा के अनुसार अनावृष्टि बाढ़, अतिवृष्टि, अकाल इत्यादि की स्थितियाँ बतलाती हैं कि मनुष्य जो करना चाहता है ईश्वर उसे विफल कर देता है एक बार जब लोग भाग्य में आस्था रखने लगे, तब फिर इसको व्यक्त करने की आवश्यकता खड़ी हुई।

प्रारंभिक वैदिक साहित्य में शकुन-विचार की प्रथा का कोई संकेत नहीं है।

भाग्य व आस्था का बढ़ावा सर्वप्रथम आजीविकों जैसे ब्राह्मण विरोधी सम्प्रदाय ने दिया। उन्होंने प्रचार किया कि मानव का भाग्य स्थिर और पूर्वनिर्धारित होता है।[79] लेकिन कौटिल्य के पूर्व यह भारत में सार्वजनिक नहीं हो पाया था। क्योंकि कौटिल्य को इसमें संदेह मालूम पड़ता था। कौटिल्य *अर्थशास्त्र* में कहते हैं कि धन का सितारा धन होता है[80], जिसका अभिप्राय है कि काम नहीं करने वाले व्यक्ति को सितारों से सहायता नहीं मिलती। स्पष्टत: सितारों की गति के आधार पर की हुई भविष्यवाणियों में उनका विश्वास नहीं था।

गुप्त और गुप्तोत्तर काल में ज्योतिष के अध्ययन को जानबूझ कर प्रोत्साहित किया गया।[81] फलित ज्योतिष पर पहली महत्वपूर्ण रचना छठी शताब्दी में रचित वराहमिहिर की *वृहत्संहिता* थी। इसमें समाज के विभिन्न लोगों के भाग्य और उपज, व्यापार-वाणिज्य के ऊपर ग्रहों और नक्षत्रों की स्थितियों और गतियों के प्रभाव का विस्तृत रूप से वर्णन है।[82] लेकिन पूर्व-मध्यकाल में तान्त्रिकों के प्रभाव के कारण तान्त्रिकों ने ज्योतिषियों की क्रियाओं को समाहित किया। आर०एस० शर्मा ने तन्त्र को फलित ज्योतिषी का निम्नतर रूप बताया।[83] उत्तर-पूर्वी भारत की ग्रामीण जनता के बीच उनकी बोलियों में फलित ज्योतिष से संबंधित सूक्तियां और कहावतें मौखिक रूप से पुश्त-दर-पुश्त चलती रही हैं और इनमें कुछ ऐसे *खना, डाक, धाध* और *भदरी* के वचन छपकर निकल चुके हैं। तान्त्रिक प्रभाव के कारण ज्योतिषियो ने इस काल में विभिन्न अनुष्ठान शुरू किए। *अग्निपुराण*[84] में वशीकरण, जान से मारने, नियंत्रित करने, सम्मोहित करने तथा पागल बनाने हेतु और मित्रता को तोड़ने हेतु जादू-टोने बतलाए गए हैं और इस काल में ये प्रथाएं तन्त्र के साथ-साथ इतनी घुल-मिल गई कि इसको कराने का खर्च बहुत बढ़ गया तथा इसमें प्रयुक्त ग्रह शब्द जनसाधारण की भाषा में संकट और दुर्भाग्य का पर्यायवाची माना जाने लगा।

जनसाधारण ही नहीं राजा, महाराजा तक इसमें विश्वास करने लगे थे। स्मृतिकार याज्ञवल्क्य ने राजाओं के उत्थान और पतन को ग्रहों के साथ लगाकर उनकी पूजा की अनुशंसा की है।[85]

ग्याहरवीं शताब्दी में शकुन विचारों की व्यापक प्रथा ने अलबेरूनी का ध्यान आकर्षित किया।[86] इससे पहले किसी विदेशी यात्री का ध्यान इस तरफ आकर्षित नहीं हुआ था। इस समय तक ये विचार मनुष्य के जीवन के प्रत्येक पहलु को छुने लगे थे। इसीलिए अलबेरूनी ने अपनी पुस्तक में पर्याप्त स्थान दिया। वह आर्यभट्ट को ज्योतिष विद्या की नींव डालने वाला कहता है तथा वराहमिहिर[87] (505-587 ई० सन्) को ज्योतिष विधा में आर्यभट्ट का उत्तराधिकारी बताया है[88] और बुद्धगुप्त को बाणभट्ट का समकालीन बताया जिसे अल्पावस्था में ही ज्योतिषशास्त्र का ज्ञान हो गया था।[89]

इस काल में ग्रहों की स्थिति में भी विश्वास बढ़ा और यह माना जाने लगा कि मनुश्य के जन्म के समय सितारे व्यक्ति के जीवन को नियंत्रक और निर्धारक करते हैं यहां तक कि रोग की कालावधि को भी आयुर्वेद ने उस ग्रह के साथ जिसमें रोग शुरू होता था, संबंध करना आरम्भ कर दिया। *वराहमिहिर* ने सर्जरी आदि के लिए श्लेषा नक्षत्र को योग्य बताया।[90] इस प्रकार बीमारियों का इलाज भी ग्रहों की स्थिति को देखकर किया जाने लगा। अलबेरूनी ऐसे रोगों के विषय में बताता है जिनको विशेष क्रियाओं और जड़ी-बुटियों का प्रयोग कर ऐसे रोगों से मुक्त कर देते थे जिनकी बचने की कोई आशा न थी।[91] सांप आदि जहरीले कीड़ों के लड़ने या काटने पर मन्त्र-तन्त्र आदि का प्रयोग कर जहर के असर को खत्म कर देते थे। यात्रा संबंधी अनेक शुभाशुभ संकेत चिन्ह तान्त्रिकों ने पौधों, पशुओं और सामाजिक श्रेणियों की दूनिया से निकाले। विवाह पर्व इत्यादि के लिए कौन-कौन से शुभ अवसर हैं ये खेतीहर समाज की जरूरतों और सुविधा को देखकर बतलाए गए।[92]

फलित ज्योतिष और शकुनविधा का उद्भव कैसे हुआ और वे लोकप्रिय कैसे बने? निस्संदेह इनमें से कुछ रिवाज उन आदिम लोगों से पुरोहितों ने अपनाए जिनका विलय ब्राह्मणवादी समाज में वैदिक युग से आरंभ हो गया था। बाद में वर्ग आधारित सामाजिक व्यवस्था के उद्देश्य की पूर्ति के लिए जनजातीय अनुष्ठानों के परिमार्जन का और अधिक विस्तार किया गया। इन्होंने सारे समाज को एक वैचारिक सूत्र में बांधने का काम किया। प्रत्येक व्यक्ति को अपने भाग्य के अनुसार फल पाना था, इसलिए उसके पास शिकायत के लिए

कोई कारण नहीं रहता था और वर्गीय तनावों तथा सामाजिक संघर्ष के लिए कम गुंजाइश रहती थी।

पूर्व-मध्यकाल में तीर्थों एवं व्रतों की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हुई और उन्हें बढ़ाचढ़ा कर प्रस्तुत किया जाने लगा।[93] यद्यपि पवित्र तथा दिव्य स्थानों का उल्लेख वैदिक ग्रन्थों में भी मिलता है किन्तु इस काल तक इनकी संख्या बढ़कर 4000 तक पहुंच गई।[94] उनकी सीधी-सादी गणना के आधार पर *महाभारत* तथा *पुराणों* में तीर्थों, उपतीर्थों तथा उनसे जुड़े हुए आख्यानों पर कम से कम 40,000 श्लोक हैं। इनमें से अधिकांश *वनपर्व, शल्यपर्व, ब्रह्मपुराण, पदम पुराण, वराह पुराण* में आए हैं। प्रारंभिक मध्यकाल में धर्म का स्वरूप तांत्रिक हो गया था। तीर्थों एवं उपतीर्थों के अध्ययन का यद्यपि धार्मिक दृष्टि से अपना महत्व है। फिर भी सामाजिक एवं आर्थिक वातावरण में विच्छिन्न करके इस पर विचार करना संभव नहीं है। प्रारंभिक मध्यकाल के आरंभ में प्राचीन शहरों का पतन हो गया। किन्तु फिर भी तीर्थों के रूप में वे अपनी धार्मिक पहचान बनाए रहे।[95] उनके भौगोलिक विवरण से यह संकेत मिलता है कि उनमें से अधिकांश पहले-पहल आरंभिक मध्यकाल में ही सामने आए, और इनमें से कई तीर्थ ब्राह्मणवादी संस्कृति के केन्द्र मध्यदेश के बाहर स्थापित किए गए।[96] जिनमें बहुत से तीर्थों के उदय का श्रेय तंत्र परंपरा को जाता है। वहां मातृदेवी के पीठ बने और विभिन्न जनजातियों के माध्यम से उन्हें ब्राह्मण देवमाला में शामिल कर लिया गया।[97]

विद्वान इन तीर्थों की वृद्धि के पीछे कई कारण बताते हैं। इन तीर्थों का सामाजिक आधार काफी व्यापक था। भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिए भी व्रत व तीर्थों की यात्रा की जाती थी।[98] *वायुपुराण* में बताया गया है कि तीर्थ पर श्राद्ध करने वाले तीर्थयात्री अपने नौकरों, दासों, मित्रों, आश्रितों, शिष्यों और जिनके प्रति वह कृतज्ञ है। उनके साथ-साथ पशुओं वृक्षों तथा जिनके साथ वह अन्य जन्मों में सम्पर्क में आए, उन सभी का पिंडदान करना चाहिए। इसमें सभी वर्णों के व्यक्ति जो माघ मास में गंगा-यमुना में स्नान कर सकते थे तथा जो शुद्र व स्त्रियाँ मंत्रोच्चार नहीं कर सकती थी, वे चुपचाप केवल नभः कहकर स्नान कर सकते थे।[99]

अधिकतर तीर्थों में स्वर्ग की प्राप्ति का आश्वासन दिया गया। वेबर का मानना है कि अधिकतर व्रतों व तीर्थों के पीछे पुजारियों की अतिलोलुपता ने भी इनको जन्म दिया क्योंकि अनेक धार्मिक संकल्पों की पूरा करने के लिए उनका हस्तक्षेप जरूरी था। अधिकतर व्रतों में ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है।[100]

शिक्षा

नालंदा, विक्रमशिला दोनों विद्यापीठ बौद्ध धर्म और तन्त्रों के विकास से बहुत सम्बन्धित रहे हैं। इन विश्वविद्यालयों में सरहपा, नागार्जुन, मैत्रीगुप्त, विरूपा आदि सिद्धाचार्य नालन्दा के आचार्य रहे थे।[101] हालांकि नालन्दा विश्वविद्यालय में प्रारंभिक काल में तान्त्रिक पद्धतियों की स्वीकृति नहीं मिल पाई थी। सरहपा तथा विरूपा के नालन्दा छोड़ने का भी यही कारण बताया गया। किन्तु बाद में नारोपा के समय में नालन्दा में न केवल गुह्य पद्धतियों और सहज पद्धति का प्रचार हो गया था वरन् कालचक्र पद्धति भी नालन्दा में स्वीकृत हो गई थी।[102] विक्रमशीला विश्वविद्यालय[103] में तन्त्रों की शिक्षा और प्रचार नालंदा विश्वविद्यालय से कहीं अधिक था। दीपांकर श्रीज्ञान विक्रमशीला विहार के ही छात्र थे। बौद्ध तन्त्रों के तिब्बती अनुवाद का बहुत सा कार्य यही सम्पन्न हुआ था।[104] पूर्वी भारत में पाल राजवंश मुख्य रूप से सिद्धों का आश्रयदाता था। धर्मपाल का समय सिद्धों के लिए भी उत्कृष्ट था तारानाथ के अनुसार भारत में पहले से ही सहस्त्रों ऐसे ग्रन्थ थे जिनमें गुह्य विधाएँ और तन्त्र छिपे थे, किन्तु जब श्री सरहपा आविर्भूत हुए तभी वे गुह्य विधाएँ प्रकाश में आई।[105] इस प्रकार 7वीं से 8वीं सदी में तन्त्रों की शिक्षा व्यापक रूप से दी जाने लगी थी। अलबेरूनी[106] तथा अन्य तान्त्रिक ग्रन्थों से पता चलता है कि मध्यकालीन संस्कृत पाठशालाओं में फलित ज्योतिष, शकुन विचार और व्याकरण दो मुख्य विषय थे। बाण चन्द्रापीड़ का वर्णन करते हुए कहता है कि वह पक्षियों का शब्द सुनकर शुभाशुभ निर्णय लेने के साथ-साथ ज्योतिषशास्त्र तथा इन्द्रजाल विद्या में भी पारंगत था।[107] यह परंपरा पारंपरिक संस्कृत शिक्षा में आज तक कायम है।[108] अलबेरूनी ने रस विद्या एवं रसायन शास्त्र की शिक्षा

का उल्लेख किया है जिनका समाज में गहरा प्रभाव था। अलबेरूनी का मानना है कि इस विद्या में पारंगत पंडित इसे गुप्त रखने का प्रयास करते हैं जिनके कारण अलबेरूनी इन विद्याओं के बारे में ज्यादा कुछ नहीं जान पाये।[109] कुछ तान्त्रिक परम्पराएं मौखिक रूप से भी पीढ़ी दर पीढ़ी जनजातियाँ क्षेत्रों में चलती रही। इनमें से कुछ मौखिक परम्पराएँ डाक, घाघ और भदरी आदि के रूप में निकल चुकी हैं।[110] इस प्रकार पूर्व-मध्यकाल में तान्त्रिक शिक्षा व्यवस्था का काफी विकास हो गया था, जिसका प्रभाव वर्तमान में भी दिखाई देता है।

इस प्रकार सामाजिक जीवन में तान्त्रिकों ने ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्य व शूद्रों के साथ-साथ स्त्रियों को भी प्रभावित किया। उन्होंने न केवल स्त्री को महत्व दिया बल्कि तन्त्र के प्रमुख प्रतिपादकों में उन्हें सर्वोच्य स्थान दिया। भू-अनुदानों के कारण ब्राह्मण निम्न जातियों के संपर्क में आए जिनके लिए उपयुक्त स्थान ढूंढने में उन्हें कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई। उन लोगों को पूर्वी, मध्य तथा दक्षिणी भारत और हिमालयी क्षेत्रों में शूद्रों का दर्जा दे दिया गया। दरअसल यह प्रक्रिया बहुत पहले ही शुरू हो गई थी लेकिन पूर्व-मध्यकाल में वह पराकाष्ठा पर पहुंच गई, जिसमें तान्त्रिकों का विशेष योगदान था।

सामंती व्यवस्था के आविर्भाव से सामाजिक एवं धार्मिक रीति-रिवाजों में भी परिवर्तन आए। भूमि के प्रत्यर्पण तथा स्वामी भाव के जन्म से पूजा और भक्ति के स्वरूप को नवीन दिशा दी गई। यह पूजा व भक्ति तान्त्रिक धर्म के अभिन्न तत्त्व बन गए। इस प्रकार मध्यकालीन तान्त्रिक ने पुराहितों, चिकित्सकों, ज्योतिषियों, वैद्यों का रूप ले लिया और फलित ज्योतिष के जरिए इस काल में पुरोहित व्यवस्था को सुरक्षित रखने का प्रयास किया तथा ब्राह्मणों की अवज्ञा करने वालों के लिए बुरे दिनों की भविष्यवाणी की गई। इस काल में तीर्थों, व्रतों की बढ़ौतरी की गई ताकि ब्राह्मणों की जीविका आसानी से चलती रहे, जहाँ लोग भिन्न-भिन्न वस्तुएँ दान में देते थे।

तीर्थों और उपतीर्थों में की गई बढ़ौतरी का श्रेय भी तंत्र परम्परा को जाता है। वे मातृदेवी की पीठ बने और विभिन्न जनजातियों के माध्यम से उन्हें देवमाला में शामिल कर लिया गया। मध्यदेश के बाहरी क्षेत्रों के लोगों को अपने धार्मिक एवं सामाजिक व्यवस्था में समायोजित करने के कार्य में वहाँ के

ब्राह्मणों ने जो सफलता पाई उससे रूढ़िवादी ब्राह्मणों की निगाहों में गिर गए। लेकिन रूढ़िवादी वर्गों के लिए स्वीकार्य बनाने के लिए जरूरी था कि इसका प्राचीन और प्रतिष्ठित आधार खोजा जाए। जिसका उदाहरण हमें यमुनाचार्य की कृतियों में मिलता है। *सात्वत आगम* का वैदिक आधार प्रमाणित करने के लिए उसने आगम प्रमाण्य की रचना की और इस प्रकार बहुत से रूढ़िवादी ब्राह्मण भी आज तक तन्त्र धर्म का आचरण कर रहे हैं।

इसी प्रकार क्षत्रियों व वैश्यों में भी इन प्रवृतियों का प्रवेश हुआ और इनमें विभिन्न तरीकों से अपने प्रयोजन सिद्ध किए। इस काल में नए क्षेत्रिय वर्ग का उदय हुआ जो जनजातियों एवं साधारण लोगों से सम्बन्धित थे। इन्होंने अपने सांस्कृतिक स्तर को ऊपर उठाने के लिए अपने दरबार में पुरोहितों, विद्वानों, लेखकों, कवियों तथा सिद्धों को अपने राजदरबार में आश्रय दिया तथा भू-अनुदान दिए। कृतज्ञ ब्राह्मणों व दरबारियों ने अपने शासकों को प्राचीन वंशावली से सम्बन्ध कर उनकी प्रशस्ति रची और इसके व्यापक प्रचार के कारण धीरे-धीरे ये चमत्कारों आदि में विश्वास करने लगे और जब मुहम्मद गजनवी ने उत्तर भारत पर आक्रमण किए तो राजा लोग सोचने लगे कि कोई सिद्ध, गजनवी को पालकी सहित उनके चरणों में गिरा दे। इस काल का क्षेत्रिय वर्ग युद्धों में जाने से पहले विभिन्न अनुष्ठान में विश्वास रखने लगा था, जिससे विजय उनको प्राप्त हो सके। वैश्य वर्ग भी अधिक से अधिक धन कमाने के लिए तान्त्रिक क्रियाओं का सहारा लेने लगा। तान्त्रिक के द्वारा स्वर्ग व मोक्ष प्राप्ति एवं अपने धन वृद्धि के लिए दान-दक्षिणा के प्रचार आदि से इस काल में विभिन्न मंदिरों, धर्मस्थलों आदि का निर्माण हुआ।

वैदिक युग से ही शूद्रों को सामाजिक सम्मान नहीं था, लेकिन इस काल में शूद्रों के सम्मान में वृद्धि हुई, जिसका मुख्य कारण था जनजातिय लोगों को ब्राह्मणीय संस्कृति में शामिल होना और उनके लिए दीक्षा का द्वार खोलना और इसके साथ-साथ काश्तकारों के रूप में जमीन में उनके कुछ अधिकार भी कायम करना था। हालांकि उसमें ब्राह्मणों तथा अन्य दानभोगियों को वरीय अधिकार प्राप्त थे। वैदिक धर्म में जहाँ पुरुष प्रधान देवताओं की उपासना की परंपरा थी वहीं आश्चर्यजनक रूप से तंत्रवाद की साधना में स्त्री को शक्ति का

स्त्रोत माना गया। इसमें प्रत्येक जीव को स्त्री के गर्भ से उत्पन्न माना गया, जिसमें मूलभूत सृष्टि का सिद्धान्त स्त्री में बताकर इसकी पूजा की अनुंशसा की गई। उसे चाहे ब्रह्मा की प्रकृति माया कहा जाए या पौराणिक पार्वती, दुर्गा, लक्ष्मी आदि नाम से पुकारा जाए, ये वस्तुतः जगन्माता के विभिन्न नाम बताए गए। ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश आदि देवताओं को इसी से उत्पन्न माना गया। इस प्रकार इस काल में स्त्री को शक्ति का स्त्रोत माना गया।

पूर्व-मध्यकालीन धर्मशास्त्र तथा वास्तुकला से सम्बन्धित रचनाओं में भी वर्णव्यवस्था पर आधारित पुराने कठोर श्रेणी विन्यास के स्थान पर भूसंपत्ति, सैनिक स्थिति आदि पर आश्रित सामाजिक संगठनों को प्रधानता दी गई। इस प्रकार तन्त्रवाद में सामाजिक जीवन के प्रत्येक वर्ण को प्रभावित किया और इन समूहों के लोगों के बीच आपसी लगाव पैदा करने में सहायता पहुँचाई।

पाद-टिप्पणी

1. *अग्निपुराण*, अध्याय, 228-232
2. *मत्स्य पुराण*, अध्याय, 228-238
3. शर्मा, रामशरण, *अर्ली मिडिवल इंडियन सोसाइटी : ए स्टडी इन फ्यूडेलिज्म*, पृ० 235-240
4. शर्मा, रामशरण, *भारतीय सामंतवाद*, पृ० 30-35
5. *वही*, पृ० 35
6. *ऋग्वेद* - 1/73/7, 22/4, 2/3/5, 90/97, 15, 9/104/4, 9/105/4, 10/124/7
7. *जर्नल ऑफ एसियटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल*, 1894, पृ० 394
8. शर्मा, रजनीकांत, *अलबेरूनी का भारत*, परिच्छेद - 17, पृ० 147
9. वाटर्म टी, *ऑन ह्युनसांग ट्रेवल्स इन इण्डिया* जिल्द-1, पृ० 140
10. इत्सिंग, *ऐ रिकार्ड ऑफ दि बुद्धिस्ट रिलीजन*, पृ० 24
11. बाण कृत *हर्षचरित*, पृ० 249
12. वेबर, मैक्स, *द रिलीजियस ऑफ इंडिया*, पृ० 50-60
13. शर्मा, रामशरण, *प्रारंभिक भारत का आर्थिक, सामाजिक इतिहास*, पृ० 91-99
14. मजूमदार, आर०सी०, *प्राचीन भारत*, पृ० 503
15. चंद, आर०पी० की *दि इंडो आर्यन रेसेज राजशाही*, पृ० 184
16. *वही*, पृ० 185

17. *कूर्मपुराण*, पृ० 141
18. यादव, बी०एन०एस०, *सोसाइटी एण्ड कल्चर इन नार्दन इण्डिया इन टैवल्थ सेन्चुरी*, पृ० 21
19. काणे, पी०वी०, *धर्मशास्त्र का इतिहास*, भाग-2, पृ० 131
20. सुचारू, ई०सी०, *अलबेरूनीज इण्डिया*, वाल्यूम-1, पृ० 102
21. शर्मा, दशरथ, *राजस्थान थ्रू दी एजेज*, पृ० 442-43
22. शर्मा, रामशरण, *अर्ली मिडिवल इंडियन सोसाइटी : ए स्टडी इन फ्यूडेलिज्म*, पृ० 235-240
23. लक्ष्मीधर कृत *कृत्यकल्पतरू*, गृहस्थ काण्ड, पृ० 397
24. शर्मा, रामशरण, *पूर्वोक्त*, पृ० 246
25. *पाराशर स्मृति*, 1/66
26. मिश्र जयशंकर, *ग्याहरवीं सदी का भारत*, पृ० 47
27. यादव, वी०एन०एस०, *पूर्वोक्त*, पृ० 202-210
27क. शर्मा, आर०एस०, *पूर्वोक्त*, पृ० 235-240
28. *मनुस्मृति*, अध्याय - 10
29. शर्मा, आर०एस०, *प्रारंभिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास*, पृ० 53
30. टॉड, कर्नल, *अनालस एण्ड अंटिक्यूटी ऑफ राजस्थान*, अध्याय - 2, 3, 4
31. स्मिथ, वी०ए०, *अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया*, पृ० 340-346
32. *एपिग्राफिया इण्डिका*, पृ० 107,110, 18, 195-97, *इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टली*, 1949, पृ० 32
33. *इण्डिया एंटी*, XXXIX, पृ० 191, यादव, वी०एन०एस०, *पूर्वोक्त*, पृ० 33
34. शर्मा, रामशरण, *पूर्वोक्त*, पृ० 94-95
35. कौटिल्य कृत *अर्थशास्त्र*, चौथा अधिकरण, अध्याय-3
36. बाणभट्ट कृत *हर्षचरित*, पृ० 249
37. *अग्निपुराण*, अध्याय 222-228
38. वासुदेव शरण का संस्करण, *पदमावत*, पृ० 129
39. बाणभट्ट कृत *हर्षचरित*, पृ० 360
40. कुमार विजय, *एंशियंट इंडियान सोसाइटी कन्टीन्यूटी एण्ड चेंज*, पृ० 1-3
41. *पराशर स्मृति*, 1.65
42. वाटर्स, टी०, *आन ह्युनसांग ट्रैवल्स इन इण्डिया*, जिल्द 1.8.168
43. अल्तेकर, ए०एस०, *प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति*, पृ० 205
44. शर्मा, रजनीकांत, *पूर्वोक्त*, उन्नीसवां परिच्छेद, पृ० 159-165
45. *नारद स्मृति*, 8, 331-32

स्त्रोत माना गया। इसमें प्रत्येक जीव को स्त्री के गर्भ से उत्पन्न माना गया, जिसमें मूलभूत सृष्टि का सिद्धान्त स्त्री में बताकर इसकी पूजा की अनुंशसा की गई। उसे चाहे ब्रह्मा की प्रकृति माया कहा जाए या पौराणिक पार्वती, दुर्गा, लक्ष्मी आदि नाम से पुकारा जाए, ये वस्तुतः जगन्माता के विभिन्न नाम बताए गए। ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश आदि देवताओं को इसी से उत्पन्न माना गया। इस प्रकार इस काल में स्त्री को शक्ति का स्त्रोत माना गया।

पूर्व-मध्यकालीन धर्मशास्त्र तथा वास्तुकला से सम्बन्धित रचनाओं में भी वर्णव्यवस्था पर आधारित पुराने कठोर श्रेणी विन्यास के स्थान पर भूसंपत्ति, सैनिक स्थिति आदि पर आश्रित सामाजिक संगठनों को प्रधानता दी गई। इस प्रकार तन्त्रवाद में सामाजिक जीवन के प्रत्येक वर्ण को प्रभावित किया और इन समूहों के लोगों के बीच आपसी लगाव पैदा करने में सहायता पहुँचाई।

पाद-टिप्पणी

1. *अग्निपुराण*, अध्याय, 228-232
2. *मत्स्य पुराण*, अध्याय, 228-238
3. शर्मा, रामशरण, *अर्ली मिडिवल इंडियन सोसाइटी : ए स्टडी इन फ्यूडेलिज्म*, पृ० 235-240
4. शर्मा, रामशरण, *भारतीय सामंतवाद*, पृ० 30-35
5. *वही*, पृ० 35
6. *ऋग्वेद* - 1/73/7, 22/4, 2/3/5, 90/97, 15, 9/104/4, 9/105/4, 10/124/7
7. *जर्नल ऑफ एसियटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल*, 1894, पृ० 394
8. शर्मा, रजनीकांत, *अलबेरूनी का भारत*, परिच्छेद - 17, पृ० 147
9. वाटर्म टी, *ऑन ह्युनसांग ट्रेवल्स इन इण्डिया* जिल्द-1, पृ० 140
10. इत्सिंग, *ऐ रिकार्ड ऑफ दि बुद्धिस्ट रिलीजन*, पृ० 24
11. बाण कृत *हर्षचरित*, पृ० 249
12. वेबर, मैक्स, द *रिलीजियस ऑफ इंडिया*, पृ० 50-60
13. शर्मा, रामशरण, *प्रारंभिक भारत का आर्थिक, सामाजिक इतिहास*, पृ० 91-99
14. मजूमदार, आर०सी०, *प्राचीन भारत*, पृ० 503
15. चंद, आर०पी० की *दि इंडो आर्यन रेसेज राजशाही*, पृ० 184
16. *वही*, पृ० 185

17. *कूर्मपुराण*, पृ० 141
18. यादव, बी०एन०एस०, *सोसाइटी एण्ड कल्चर इन नार्दन इण्डिया इन टैवल्थ सेन्चुरी*, पृ० 21
19. काणे, पी०वी०, *धर्मशास्त्र का इतिहास*, भाग-2, पृ० 131
20. सुचारू, ई०सी०, *अलबेरूनीज इण्डिया*, वाल्यूम-1, पृ० 102
21. शर्मा, दशरथ, *राजस्थान थ्रू दी एजेज*, पृ० 442-43
22. शर्मा, रामशरण, *अर्ली मिडिवल इंडियन सोसाइटी : ए स्टडी इन फ्यूडेलिज्म*, पृ० 235-240
23. लक्ष्मीधर कृत *कृत्यकल्पतरू*, गृहस्थ काण्ड, पृ० 397
24. शर्मा, रामशरण, *पूर्वोक्त*, पृ० 246
25. *पाराशर स्मृति*, 1/66
26. मिश्र जयशंकर, *ग्याहरवीं सदी का भारत*, पृ० 47
27. यादव, वी०एन०एस०, *पूर्वोक्त*, पृ० 202-210
27क. शर्मा, आर०एस०, *पूर्वोक्त*, पृ० 235-240
28. *मनुस्मृति*, अध्याय - 10
29. शर्मा, आर०एस०, *प्रारंभिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास*, पृ० 53
30. टॉड, कर्नल, *अनालस एण्ड अंटिक्यूटी ऑफ राजस्थान*, अध्याय - 2, 3, 4
31. स्मिथ, वी०ए०, *अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया*, पृ० 340-346
32. *एपिग्राफिया इण्डिका*, पृ० 107,110, 18, 195-97, *इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टली*, 1949, पृ० 32
33. *इण्डिया एंटी*, XXXIX, पृ० 191, यादव, वी०एन०एस०, *पूर्वोक्त*, पृ० 33
34. शर्मा, रामशरण, *पूर्वोक्त*, पृ० 94-95
35. कौटिल्य कृत *अर्थशास्त्र*, चौथा अधिकरण, अध्याय-3
36. बाणभट्ट कृत *हर्षचरित*, पृ० 249
37. *अग्निपुराण*, अध्याय 222-228
38. वासुदेव शरण का संस्करण, *पदमावत*, पृ० 129
39. बाणभट्ट कृत *हर्षचरित*, पृ० 360
40. कुमार विजय, *एंशियंट इंडियान सोसाइटी कन्टीन्यूटी एण्ड चेंज*, पृ० 1-3
41. *पराशर स्मृति*, 1.65
42. वाटर्स, टी०, *आन ह्युनसांग ट्रैवल्स इन इण्डिया*, जिल्द 1.8.168
43. अल्तेकर, ए०एस०, *प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति*, पृ० 205
44. शर्मा, रजनीकांत, *पूर्वोक्त*, उन्नीसवां परिच्छेद, पृ० 159-165
45. *नारद स्मृति*, 8, 331-32

46. *एपिग्राफिया इण्डिका* – 1/175, 11/42, 21/48
47. गुप्ता, देवेन्द्र कुमार, *प्राचीन भारत का समाज एवं अर्थव्यवस्था*, पृ० 28–29
48. शर्मा, आर०एस०, *पूर्वोक्त*, पृ० 53
49. शर्मा, रजनीकांत, *पूर्वोक्त*, आठवां परिच्छेद, पृ० 85–89
49क. वराहमिहिर कृत *वृहतसंहिता*, अध्याय–8, पृ० 231
50. मजूमदार, जी०पी०, बनर्जी, एस०सी० द्वारा संपादित *विवलियोथेका इंडिका*, कलकता–1960, श्लोक 120
51. *वही*, श्लोक 121–156
52. *वही*, श्लोक 157–185
53. *वही*, श्लोक 144–149
54. *वही*, श्लोक 150–151
55. *वही*, श्लोक 150–151
56. शर्मा, आर०एस०, *पूर्वोक्त*, पृ० 120
57. मित्तल, अमरचन्द, *परमार कालीन सभ्यता एवं संस्कृति*, पृ० 66–67
58. शर्मा, आर०एस०, *अर्ली मिडिवल इंडियन सोसाइटी : ए स्टडी इन फ्यूडेलिज्म*, पृ० 235–36
59. *मनुस्मृति* पर मेधातिथि का भाष्य, भाग–3, श्लोक 156
60. पेटर्सन, पी० का संस्करण, *कादंबरी*, पृ० 224–25
61. *इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली*, पृ० 763
62. शास्त्री, हरप्रसाद, *ए कैटेलोग ऑफ पाम–लिफ एंड सेलेक्टेड पेपर बिलांगिग टू द दरबार लाइब्रेरी नेपाल*, कलकता, अध्याय–1, पृ० 176
63. बागची, पी०सी०, *आन सम तान्त्रिक टेक्स्टस इन एनालिस्ट कम्बुज : इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली* – V – 763, हरप्रसाद शास्त्री, *वही*, पृ० LXI
64. *ऋग्वेद* – 1.131.3
65. अल्तेकर, ए०एस०, *पोजिशन ऑफ वुमैन इन हिन्दू सिवलाइजेशन*, पृ० 108
66. *मनुस्मृति* 5.148
67. शर्मा, आर०एस०, *प्रारंभिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास*, पृ० 91
68. विज्ञानेश्वर द्वारा, *याज्ञवल्क्य स्मृति* पर टीका, 2/14, 1/87
69. *कुलावलीनिर्णय*, 8–76
70. *मुहानिर्वाण तन्त्र*, 6, 14–25
71. बाणभट्ट कृत *कादंबरी*, पृ० 190–195
72. *वही*, पृ० 195–196
73. *वही*, पृ० 196

74. बाणभट्ट कृत *हर्षचरित* प्रथम अध्याय, पृ० 11, मालती माधव, अंक-5
75. पेटर्सन, पी० का संस्करण, *कांदबरी*, पृ० 224-225
76. भट्टाचार्य एन०एन० द्वारा संकलित संदर्भ सरकार, डी०सी० सं०, *दा शक्ति कल्ट एंड तारा*, पृ० 68-69
77. काणे, पी०वी०, *पूर्वोक्त*, खण्ड-3, पृ० 277
78. शर्मा, आर०एस०, *पूर्वोक्त*, पृ० 120
79. बाशम, ए०एल०, *हिस्ट्री एण्ड डॉक्ट्रिन्स ऑफ दि आजीविकाज*, अध्याय-12
80. कौटिल्य कृत *अर्थशास्त्र*, LIX अधिकरण अध्याय - 4
81. काणे, पी०वी०, *पूर्वोक्त*, पृ० 280-305
82. याज्ञवल्क्य स्मृति, *भट्टोत्पल की टीका के साथ*, संपादक द्विवेदी, सुधाकर, बनारस, 1895-97
83. शर्मा, आर०एस०, *पूर्वोक्त*, पृ० 120-121
84. *अग्निपुराण*, अध्याय-242
85. *याज्ञवल्क्य स्मृति विद दि मिताक्षरा*, संपादक सेतकर, एस०एस०, खण्ड-1, पृ० 307
86. शर्मा, रजनीकांत, *पूर्वोक्त*, पृ० 453
87. *वही*, पृ० 455
88. *वही*, पृ० 460
89. *वही*, पृ० 458
90. वराहमिहिर कृत *वृहसंहिता*, अध्याय-15, पृ० 343-357
91. शर्मा, रजनीकांत, *पूर्वोक्त*, पृ० 143
92. शर्मा, आर०एस०, *पूर्वोक्त*, पृ० 127
93. काणे, पी०वी०, *पूर्वोक्त*, खण्ड-3, पृ० 305
94. *वही*, भाग-2, पृ० 479
95. नंदी, रमेद्रनाथ, *दि इंडियन हिस्यारिकल रिव्यू* VI, पृ० 103-104
96. शर्मा, आर०एस०, *पूर्वोक्त*, पृ० 120-125
97. *वही*, पृ० 127
98. काणे, पी०वी०, *पूर्वोक्त*, पृ० 305
99. *वायु पुराण*, 110-54-53
100. वेबर, मैक्स, *द रिलीजियस ऑफ इण्डियन*, पृ० 50-60
101. लामा, तारानाथ, *मिस्टिक टेल्स*, पृ० 8-11
102. *वही*, पृ० 155
103. *वही*, पृ० 41

104. मजूमदार, आर०सी०, *हिस्ट्री ऑफ बंगाल*, खण्ड-ए, पृ० 417
105. लामा, तारानाथ, *पूर्वोक्त*, पृ० 79
106. शर्मा, रजनीकांत, *पूर्वोक्त*, अध्याय 14वां परिच्छेद
107. बाणभट्ट कृत *कादंबरी*, पृ० 232
108. शर्मा, आर०एस०, *पूर्वोक्त*, पृ० 125-126
109. शर्मा, रजनीकांत, *पूर्वोक्त*, परिच्छेद 17, पृ० 142
110. शर्मा, आर०एस०, *पूर्वोक्त*, पृ० 124

केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय
पुस्तकालय
परिग्रहण सं 27628
दि.
दिल्ली

अध्याय – 5

राजनीतिक जीवन में तान्त्रिक जीवन पद्धति

भारतीय प्रायद्वीप के राजनीतिक इतिहास में हर्षवर्धन के बाद ऐसी प्रवृत्तियों का आविर्भाव हुआ जो विभिन्न रूपों में लगभग एक सहस्त्राबदी तक हावी रही – यह प्रवृत्ति थी विकेन्द्रीकरण और क्षेत्रीयता की भावना। इस कारण भारत की राजशक्ति किसी एक स्थान पर केन्द्रीत न होकर, विभिन्न स्थानों पर केन्द्रीत हो गई। यद्यपि यह सत्य है कि इस काल में कुछ विशाल शक्ति भी सामने आई, किन्तु किसी भी दृष्टि से उन्हें अखिल भारतीय शक्ति नहीं कहा जा सकता। चूंकि विद्वानों ने इस काल को तान्त्रिक काल भी माना है, जिसका प्रभाव न केवल धार्मिक, सांस्कृतिक जीवन पर ही नहीं पड़ा, बल्कि राजनीतिक जीवन पर भी पड़ा। इसके लिए कुछ हद तक सामंतवादी प्रणाली की भूमिका भी मानी जा सकती है।

इस तरह देश का प्रशासन सामन्ती व्यवस्था में बदल गया था। इसमें राजनीतिक एकता को बड़ा नुकसान पहुँचा क्योंकि सामन्तों के गुट मौका पाकर जिस राजा से टूट जाते उसका पतन हो जाता और जिसके साथ जा मिलते वह ऊपर उठ जाता। सातवीं–आठवीं सदी में भारतीय राज्य व्यवस्था सामन्तों के जोड़–तोड़ का अखाडा बन गई और उसका स्थायित्व नष्ट हो गया।

सामंती व्यवस्था के साथ–साथ इस काल में नए क्षेत्रिय वर्ग का भी जन्म हुआ जो जनजातियों तथा साधारण लोगों से संबंधित माने गए। इन्हें जल्दी से ऊपर उठकर अपना सांस्कृतिक स्तर बढ़ाना था। इसके लिए इन्हें प्राचीन शानदार वंशावलियों की जरूरत थी। अत: इन्होंने ब्राह्मणों, विद्वानों, लेखकों

और कवियों से मदद ली और बदले में उन्होंने उनके वर्गगत अधिकारों को दृढ़ किया। इन शासकों की स्वभावत: ऋद्धि-सिद्धि, मंत्र-तंत्र और टोने-टोटके में रूची थी। वे करामातों और चमत्कारों में बहुत विश्वास रखते थे और अद्भुत और अलौकिक बातों के शौकिन थे। इससे स्पष्ट है कि राजा लोग उन धर्म-गुरुओं को पसंद करने लगे जो अपनी सिद्धियों से उनके उल्लू सीधे कर सकें। वृहतसंहिता में राजा के विषय में कहा है कि उसे अपने भविष्य के विषय में जानना चाहिए। वह आगे कहता है कि दीप विहीन रात्रि और सूर्यरहित आकाश की तरह दैवज्ञ (सावंतसर अर्थात् वर्ष के अन्दर होने वाली घटनाओं को देखने वाला) से रहित राजा कभी शोभित नहीं होता तथा अन्धे की तरह भटकता रहता है।[1] राजनीतिक विकेन्द्रीयकरण के कारण बहुत सारे बाहरी लोगों को यहाँ आने और अपना राज्य स्थापित करने का मौका मिला। साथ ही बहुत से गुमनाम लोग ऊपर उठ गए और उन्होंने अपने-अपने छोटे-मोटे राज्य बनाने प्रारंभ कर दिए। इन प्रवृतियों में उन लोगों का प्रभुत्व हुआ, जिन्हें राजपूत कहा गया।

राजपूत वंश

राजपूतों की उत्पति के विषय में विद्वानों में मतभेद है, लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि राजपूत वंश की उत्पत्ति भारतीय समाज की विविध जातियों तथा जन-जातियों के साथ-साथ उन विदेशी आक्रमण जातियों से भी हुई जो भारत में बस गये थे।[2] वी०ए० स्मिथ राजपूतों को विदेशी मानते हुए कहते हैं कि ये लोग ऋद्धि-सिद्धि, मन्त्र-तन्त्र और टोने-टोटके तथा करामाताओं और चमत्कारों में बहुत विश्वास रखते थे।[3] जिससे राजपूज काल में राजनीति में भी इन चीजों का समावेश हो गया।

इस काल में राजा लोग उन धर्म गुरूओं को पसन्द करने लगे जो अपनी सिद्धियों से उनके उल्लू सीधे कर सकें।[4] इसका उदाहरण हमें राजशेखर के ग्रन्थ में मिलता है - कन्नौज में प्रतिहार राजाओं के दरबार में एक नाटक *कर्पूरमंजरी* खेला गया जिसमें भैरवनाथ नामक शैव सिद्ध को आसमान से चाँद उतारकर पृथ्वी पर लाते हुए दिखाया गया। जिससे वहाँ का राजा चक्रवर्ती

कहला सके।[5] वास्तव में पूर्व-मध्यकाल में हर व्यक्ति का जादू-टोने में बहुत विश्वास था, इसलिए हर सामन्त अपने साथ कोई सिद्ध रखता था। हर गढ़-गढ़ी के पास किसी साधु-सिद्ध की कुटिया होती थी जहाँ तन्त्र-मन्त्र की साधना बराबर चलती रहती थी और सुरंगों से लोगों का आना-जाना बना रहता था। बनारस में जयचन्द्र गहड़वाल की रानी कुमारदेवी के विहार में ऐसी एक सुरंग मिली है। ऐसे वातावरण में नौ-नाथों और चौरासी सिद्धों की बातें बहुत चली थी तथा लोकमानस पर उनका बड़ा प्रभाव था। राजा लोग अपनी राजनीतिक स्थायित्व के लिए विभिन्न तरीकों से सिद्ध-मुनियों की सहायता लेने लगे।[6]

राजत्व को दैवीय बनाने के लिए

भारत में वैदिक काल से ही राजनीतिक सत्ता को कायम रखने, राजकीय शक्ति को बढ़ाने तथा जनसाधारण द्वारा स्वीकृत कराने के लिए राजत्व को दैवीय तत्व से संबंद्ध किया गया। उत्तर वैदिक काल में राज्याभिषेक सूत्रों में राजा को देवताओं के गुण प्रदान करने हेतु प्रार्थनाएँ निर्धारित की गई और साथ ही साथ राजा में कुछ दैवीय गुणों के संकेत मिलते हैं। *अथर्ववेद* के उत्तरांश में राजा को ईश्वर माना गया है। वह मरणशील प्राणियों से ऊपर होता है।[7] लेकिन मौर्य काल तक यह विश्वास (भावना) अधिक नहीं फैला था।

मौर्योत्तर काल में राजा को ईश्वर के रूप में समझने की धारणा का बड़े पैमाने पर फैलाया गया। कुषाण राजाओं ने अपने को देवपुत्र अर्थात् देवता का पुत्र कहा। बौद्ध ग्रन्थों में कहा गया है कि मनुष्य के रूप में जन्म लेने से पहले राजा देवताओं के पास रहता था। 33 देवों में से प्रत्येक ने उसके तत्व के निर्माण में योगदान किया। इसलिए देवपुत्र कहलाए। मनु ने राजा के आठ गुणों की बात कही और कहा कि बालक राजा का अपमान नहीं होना चाहिए क्योंकि वह मनुष्य के रूप में महान देवता के सृदश्य कार्य करता है।[8] दूसरी शताब्दी ईस्वी के सातवाहन राजा गौतमी पुत्र शातकीर्ण की तुलना यम, वरूण, इन्द्र, कुबेर इत्यादि विभिन्न देवताओं से की जाती थी। गुप्त सम्राटों ने भी इस प्रथा का अनुसरण किया। लोगों को संरक्षित और सुरक्षित रखने के कारण गुप्त राजाओं की तुलना विष्णु से की गई है। विष्णु की पत्नी तथा सम्पति की देवी

लक्ष्मी का निरूपण अनेक गुप्त सिक्कों पर मिलता है। गुप्त राजाओं के संबंध में यह ध्यान देने योग्य बात है कि ये देव कहलाते हैं, जिससे इनका देवताओं के रूप में स्पष्टत: प्रतिनिधित्व होता है।

लेकिन पूर्व-मध्यकाल में इस व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण बदलाव आया। इस काल में राजाओं का संबंध सूर्यवंश और चन्द्रवंश से जोड़ा जाने लगा।[9] इस समय तक सूर्य और चंद्र देवताओं के रूप में माने जा चुके थे। रामायण में विष्णु के अवतार कहलाने वाले राम सूर्यवंशी थे और महाभारत के प्रसिद्ध पाण्डव-चन्द्रवंश के थे। इस काल से पहले किसी राजा ने अपने वंशवृा का संबंध देवताओं के साथ कभी नहीं जोड़ा। यह पहले पहल छठी-सातवीं सदी के बाद जनजातीय सरदारों के साथ हुआ। वे राजा बनकर उदारतापूर्वक ब्राह्मणों को दान देते थे और कृतज्ञ ब्राह्मण उन्हें उच्च और प्राचीन वंशावली से संबंध करते थे। तारानाथ का कहना है कि पालवंश की स्थापना से पहले बंगाल में 'चन्द्रवंश' के राजाओं का आधिपत्य था और यशोवर्मन के आक्रमण के समय ललितचन्द्र गौड़ का राजा था।[10] तमिल कथाओं में गोविन्दचन्द को घनघोर वर्षा वाले बंगाल देश का नृपति बताया गया है, जिसने हाथी पर सवार होकर राजेन्द्र चोल से युद्ध किया और पराजित हुआ।

राजत्व को स्थायित्व दिलाने के लिए ज्योतिषियों ने इस काल में राजाओं की जन्मकुण्डली प्राचीन राजाओं जैसी बताई। पृथ्वीराज चौहान की जन्मकुंडली को रामायण में अंकित राम की जन्मकुण्डली के सदृश बताई गई। लेकिन दोनों में ग्रहीय अवस्थितियाँ अलग-अलग थी। हम आसानी से कह सकते हैं कि पृथ्वीराज की जन्मकुंडली काल्पनिक थी। पृथ्वीराज रासो जैसे काव्यों में तो जन्मकुंडली काल्पनिक होती ही थी। ज्योतिष तथा सिद्धों ने राजाओं के जन्म-अवसरों को अत्यंत शुभ दिखाने की कोशिश की। हर्ष और चालुक्य नरेश षष्ठम विक्रमादित्य के जन्म का वर्णन बहुत बड़ी शुभ घटना के रूप में किया गया। जिसके आधार पर ज्योतिषियों ने शानदार भविष्यवाणी की। यह सब कुछ उनके बड़े शासक बनने की अवश्यम्भाविता पर बल देने के लिए किया गया। राजकीय परिवारों को प्राचीन देवताओं और वीरों के साथ संबंद्ध करने का रिवाज पूरे देश में फैल गया।

तान्त्रिकों का राजदरबार में आश्रय

पूर्व-मध्यकाल में सिद्ध राजदरबार में आश्रय पाने लगे थे। इस काल के धर्मशास्त्रों में कहा जाने लगा कि राजा को मन्त्री की सलाह के अलावा सम्मवतसार (सिद्धों) की सलाह लेनी चाहिए। कौटिल्य ने भी अर्थशास्त्र में कहा है कि राजा को अपने दरबार में सिद्धों को रखना चाहिए[11] तथा उनके द्वारा भांति-भांति से प्रचार-प्रसार करवाना चाहिए। उन्होंने आगे कहा है कि राजा को ज्योतिषी, सुगुनिया, पौराणिक (कहानीकार), ईक्षणिक (ज्योतिषियों का एक प्रकार), जासूस और सहित्यकार को अपनी राजसेवा में रखना चाहिए। गुप्तचरों द्वारा शत्रु प्रजा में देवआतों की मूर्तियों को क्षति पहुंचाकर सिद्धों द्वारा यह प्रचार किया जाए कि यह शत्रु की पराजय के संकेत हैं। इससे यह अनुमान लगा सकते हैं कि सिद्धों का जनमत बनाने में बड़ा हाथ रहा होगा। साथ ही सिद्ध दैव विपतियों (आग, बाढ़, दुर्भिक्ष) में प्रजा की रक्षा करते थे। इसलिए राजा को इनक सम्मान रखना चाहिए। यह विश्वास पूर्व-मध्यकाल में स्पष्ट दिखाई देता है। सातवीं-आठवीं सदी में उत्तर-पूर्वी भाग पर शासन करने वाले पाल एवं चन्द्र वंश के राजाओं ने सिद्धों को आश्रय दिया। जिसमें 705 ई० सन् के लगभग पूर्वी भारत के राजा गोपाल (सामंत) के पुत्र अनभवज्ञ ने अपने "*प्रजोपाय विनिश्चयसिद्धि*" नामक ग्रन्थ के द्वारा तान्त्रिक विचारों को निम्न वर्ग से उच्च वर्ग में प्रसारित किया और वज्रयान को शास्त्रीय रूप दिया। धर्मपाल का समय सिद्धों के लिए उत्कृष्ट रहा। शबरपाद का शिष्य लुईपाद राजा धर्मपाल के दरबार का कर्मचारी था।

तभी से गुह्य विधाएं प्रकाश में आई। धर्मपाल की मृत्यु तक कई सिद्ध आविर्भूत हुए और अभयंकर (1077 ई० सन्) की मृत्यु तक यह परम्परा चलती रही।[12] महीपाल के बाद नालन्दा और विक्रमशीला के बौद्ध तन्त्राचार्य का प्रभाव राजसत्ता पर बहुत बढ़ गया था। महीपाल ने अपने समय के प्रसिद्ध सिद्ध दीपंकर को विक्रमशीला का अध्यक्ष बनाया। इनका इतना व्यापक प्रभाव था कि कोचीन, तिब्बत, नेपाल और पूर्वी भारत के राज्य अपने राजनीतिक विद्रोहों में भी उनकी मध्यस्थता स्वीकार करते थे। दीपंकर ने नयपाल और कर्ण के विद्रोह में मध्यस्थता की थी।[13] नयपाल भी विक्रमशीला के अध्यक्ष

स्थविर रत्नाकर एवं प्रमुख सिद्ध की मंत्रणा से ही सारे काम करता था। कल्हण ने *राजतरंगिणी*[14] में उल्लेख किया है कि राजा अवन्ति वर्मा के शासन काल में भट् नामक सिद्ध ने संसार के कल्याण के लिए जन्म लिया था। वह दूसरे शासक के विषय में कहता है कि कश्मीर का राजा कलश[15] (1063–1089 ई० सन्) अमरकण्ठ के पुत्र प्रदमकण्ठ नामक झूठे सिद्ध का शिष्य हो गया था। उसने उसे बुरे आचरण से लिप्त कर दिया था, जिससे वह अच्छी या बुरी स्त्रियों में भी भेद नहीं कर पाता था। इस प्रकार गलत गुरू के चुनने से शासक तक भी उचित–अनुचित में फर्क नहीं कर पाता था।

727 ई० सन् के लगभग अफगानिस्तान की स्वात–घाटी में उद्यान नामक प्रदेश के राजा इन्द्रभूति ने वज्रयान का प्रचार किया और उस पर तेइस ग्रन्थ लिखे। जिनमें '*ज्ञानसिद्धि*' और '*कुरूकुल्लासाधना*' संस्कृत में मिलते हैं। उनकी बहन लक्ष्मीकंरा (729 ई० सन्) ने अपनी तान्त्रिक रचना *अद्यसिद्धि* में विभिन्न तान्त्रिक अनुष्ठानों के प्रसार पर बल दिया। चूंकि ये अलौकिक शक्तियाँ रखते थे। राजा अपनी विजय प्राप्त करने के लिए इनको दरबार में आश्रय देते थे।[16] इसका उदाहरण हमें शान्तिगुप्त से मिलता है जिन्होंने पश्चिमी भारत में जाकर तुरुष्क, मुहम्मदी और ताजिकों को सिद्धियों द्वारा परास्त किया।[17]

पंजाब में सियालकोट के राजा रसालू के बड़े भाई पूरन भगत, चौरंगीनाथ तथा बंगाल के राजा गोपीचन्द और उसकी माँ मैनावती नाथ सम्प्रदाय में दीक्षित होकर बड़े सिद्ध बने। दरबार में उनको बहुत सम्मान प्राप्त था। राजा भी इनके अनुष्ठानों में बहुत विश्वास करते थे। राजा रतनसेन के बारे में मलिक मुहम्मद जायसी ने लिखा है कि उन्होंने पद्यमिनी को प्राप्त करने के लिए योग साधना की और उनके साथ सोलह हजार राजकुमारी योगी बनी।[18]

तजा राज राजा भा जोगी, ओ किगरी कर रहे वियोगी।
राय राने सब भले वियोगी, सोरह सहय कुंवर भये जोगी।

वे आगे कहते हैं कि उस जमाने में ऐसे योगियों की बड़ी–बड़ी टोलियाँ इधर–उधर घुमा करती थी।

पूर्व–मध्यकाल में ज्योतिष के बढ़ते विश्वास ने तान्त्रिकों के महत्व को

बढ़ाया। अर्थशास्त्र में बहुत सारे भविष्यवक्ताओं के नाम दिए गए हैं लेकिन राज्य की तरफ से उनको वेतन नहीं मिलता था। गुप्त लेखों में भी शकुन कला का कहीं जिक्र नहीं है। गुप्त काल के अन्त में शकुनकर्ता (ज्योतिषी) को पुरोहित के बराबर मान लिया गया। लेकिन दरबार में उनके लिए कोई अलग से दफ्तर नहीं था।

स्मृतिकार याज्ञवल्क्य ने राजाओं के उत्थान और पतन को ग्रहों के साथ लगाकर उनकी पूजा की अनुशंसा की है।[19] *विष्णु धर्मोत्तर पुराण* में पुरोहित के अतिरिक्त राजदरबार में साम्वतसर की नियुक्ति का उल्लेख है और उसके तथा मंत्री के ऊपर निर्भर रहने के लिए राजा को सलाह दी गई है।[20] *वृहतसंहिता* में भी उनके महत्व का वर्णन करते हुए कहा गया है कि राजा दैवज्ञ (साम्वत्सर) के बिना अन्धे आदमी की तरह गलत रास्ता पकड़ लेता है। इसमें यह भी कहा गया है कि जो राजा इनमें विश्वास या पूजा नहीं करता है उसका सर्वनाश हो जाता है और उन्नति चाहने वाले व्यक्ति को उस देश में नहीं रहना चाहिए जहां दैवज्ञ न हो।[21] कामंदक के अनुसार साम्वत्सर जिसे ग्रहों की जानकारी रहती है, प्रश्नों के उत्तर देने में चतुर और दक्ष फलित ज्योतिषी, होरागणिततत्वविद् होता है।[22]

लेकिन साम्वत्सर के बारे में सातवीं-आठवीं शताब्दियों के साहित्यिक उल्लेखों के बावजूद उसके पद का किसी समकालीन अभिलेख में जिक्र नहीं है। वस्तुतः मध्ययुग के मध्य तक अभिलेखों में फलित ज्योतिषी को पदीय स्थिति को मान्यता नहीं मिल पाती है। ग्यारहवीं शताब्दी के बाद से गाहडवाल अभिलेखों में ज्योतिषियों और नैमित्तिकों का उल्लेख मिलता है और ग्रामीण संसाधनों के अनुदान के द्वारा उनके वेतन भुगतान की चर्चा है। सिद्ध और ज्योतिषी लडाई के मैदानों में राजाओं के देवत्व को घोषित कर और यौद्धाओं के विजय के लक्षणों की चर्चा कर राजाओं का मनोबल ऊंचा करते थे। ऐसे ही प्रमाण हमें हर्षचरित में मिलते हैं।[23] साथ ही साथ सिद्ध लोग राजनीतिक विद्रोह और जन उत्तेजना फैलाने वालों के लिए अशुभ परिणामों की भविष्यवाणी कर ऐसी घटनाओं को रोक सकते थे।

इस प्रकार पूर्व-मध्यकाल में सिद्ध राजदरबारों में सम्मानित थे। ये राजाओं के आचार्य थे तथा राजनीति निर्धारण में उनका विशेष योगदान रहा था।

युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए तान्त्रिक अनुष्ठानों में विश्वास

पूर्व-मध्यकाल में राजा अपनी विजयों के लिए तान्त्रिक अनुष्ठानों में विश्वास करने लगे थे। *वृहतसंहिता* में एक स्थान पर उल्लेख आया है कि एक देश काल को जानने वाला देवज्ञ (सिद्ध) जितना काम करने की क्षमता रखता है, उतनी क्षमता से उस कार्य को हजार हाथी और उससे चार गुणा संख्यक घोड़े भी नहीं कर सकते। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि सिद्ध को राजा के लिए सेना के सम्मान अर्थात् उससे भी अधिक उपयोगी माना है।[24] बाण ने *हर्षचरित* में उल्लेख किया है कि जब राजा हर्ष ने कृत प्रतिज्ञ होकर दिग्विजय के लिए प्रायाण करने की आज्ञा दी तो ज्योतिषियों ने बड़ी मेहनत से गणना करके शुभ दिन निकाला और चारों दिशाओं की विजय के लिए दण्डयात्रा के योग्य लग्न दे दिया। इसके बाद स्वयं हर्ष ने शरदकालीन मेघों के समान जल बरसाने वाले चांदी और सोने के कुम्भों से स्नान किया। भगवान शंकर की परम भक्ति से पूजा की, दक्षिणावर्त शिखाओं की प्रज्वलित अग्नि में हवन किया, रत्न से भरे, हजारों चांदी से भरे तिलपात्र और सोने के पतरों में मढ़े खुर और सींगों वाली हजारों गायों को दान में दिया।[25] *मत्स्यपुराण*[26] में शकुनों तथा शुभ संकेतों के साथ-साथ युद्ध में सफलता के लिए ज्योतिष सबंधी अभिधारणाओं की प्रधानता है। इसमें युद्ध से संबंधी बाईस अध्याय हैं तथा *विष्णु धर्मोत्तर पुराण* में भी युद्ध से संबंधी ज्योतिष वर्णन मिलता है। *अग्निपुराण*[27] (ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी) में युद्ध से संबंधी फलित ज्योतिष एक अलग शाखा के रूप में विकसित हुआ, जिसे 'युद्धजयार्णवीयज्योतिशास्त्र' की संज्ञा दी जाती है। जिसमें युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए, कृक्षि वाले तीन नक्षत्रों में युद्ध करने से उत्तम फल प्राप्ति की भविष्यवाणी की गई है तथा कुब्जि की पूजा विमल संयोग, विमल एवं समय विमल में करने की अनुशंसा की गई। साथ ही राजा को विजय अभियान से एक सप्ताह पहले देवताओं की पूजा करने आदि अनुष्ठानों का उल्लेख इस ग्रन्थ में हुआ है।

तान्त्रिक एवं सिद्ध न केवल राजा का मनोबल बढ़ाते थे बल्कि वे लड़ाई के मैदान में अपनी संरक्षक राजाओं की अजेयता का प्रचार करते थे। *अग्निपुराण* में आया है कि ब्राह्मण राजा को **'प्रंण्याह उएव'** शब्द के साथ मन्त्र सुनाये

जिसमें सभी देवता आपकी रक्षा करें। इस मन्त्र को सुनकर राजा को युद्ध यात्रा करनी चाहिए।[28] सिन्ध के सिद्धों ने हिन्दू शासकों के विरूद्ध यवन आक्रमणकारियों की खुली सहायता की थी।[29] इसके कारण चाहे जो कुछ हो लेकिन तारानाथ ने स्पष्ट किया है कि बाद के सिद्धों ने समय-समय पर तुर्कों का विरोध किया और उनकी पराजय में सहायता पहुंचाई। 'विरूपा' (सिद्ध) के चमत्कारों में दो बार म्लेच्छों के विरोध का उल्लेख है। सम्राट रामपाल के समय में विरुपा ने अपना चरणामृत उनके 'बन-बादल' नामक हाथी को पिला दिया और उसी के कारण वे म्लेच्छों पर विजयी हुए।[30]

इसी प्रकार शान्तिगुप्त नामक सिद्ध ने पश्चिमी भारत में जाकर मुहम्मद, तुस्ष्क तथा ताजिकों को सिद्धियों द्वारा परास्त किया।[31] तिब्बती ग्रन्थों में उल्लेख आया है कि उड्डियान के राजा पर जब मुलतान के किसी शासक ने हमला किया तो सिद्ध 'पद्म-सम्भव' ने जादू से उसकी किस्तियाँ डुबो दी। युद्धों में कुछ अपशकुन आदि तरीकों या लक्षणों की खोज पूर्व-मध्यकाल में की गई जिसमें सिद्धों द्वारा राजा की हार के लक्षण बताए। ऐसा उल्लेख पहले कौटिल्य के अर्थशास्त्र में आया है जिसमें कहा गया है कि विजय प्राप्त करने वाले राजा को चाहिए कि वह शत्रु राज्य में सिद्धों द्वारा यह प्रचार कराये कि जैसे शत्रु राज्य के देवताओं की मूर्तियों को क्षति पहुंचाकर प्रचुर मात्रा में रक्त बहाने की सलाह दी गई जिससे शत्रु जनता में राजा के प्रति अविश्वास फैल जाए।[32] इसी तरह का वर्णन हमें *हर्षचरित* में मिलता है। बाण कहता है कि जब राजा हर्ष दिग्विजय पर निकला तो शत्रु सामन्तों के घरों में दुर्निमित होने लगे। यौद्धाओं की स्त्रियों के मुख का जो प्रतिबिम्ब मधुपात्र में पड़ता था उसमें वे विधवा दिखाई पड़ने लगी थी। ऐसे लगभग 20 बुरे संकेतों की बात *हर्षचरित* में बताई गई है।[33]

कथासरित्सागर में भी उल्लेख आया है कि युद्ध में जाते हुए विधाधरों को अशुभ शकुन होते थे। इसमें बताया गया है कि ध्वजा पर बिजली गिरना, गिद्ध ऊपर मंडराना, महाछत्र टूट जाना, सियार बोलने लगना आदि अशुभ सूचनाओं (संकेत) का परिणाम अशुभ ही होता था और उनकों भयंकर परिणामों का सामना करना पड़ता था।[34]

चूंकि इस काल में सिद्धों का बहुत सम्मान था। राजा से रंक व ब्राह्मण शूद्र तक इसमें विश्वास करते थे।[35] बौद्धों व हिन्दुओं में आठ सिद्धियों का उल्लेख है।[36] जिसमें ऐसे मन्त्र जादुई शक्ति में विश्वास था कि जिसके मिलने पर विजय संभव हो सकती थी। भ्ट्टाचार्य ने अपने लेख में इसकी चर्चा की हैं –

1. खड़ग – वह तलवार जिस पर मन्त्र फूंका गया हो, जिसे धारण कर योद्धा लड़ाई में विजय प्राप्त करता है। **खेचर** जिसमें व्यक्ति (सैनिक) आकाश में उड़ता है तथा **भूचर** एक ऐसी शक्ति जिसमें पृथ्वी पर कहीं भी शीघ्रता से चला जाना आदि ऐसी सिद्धि थी जिसमें हर असंभव कार्य से असंभव कार्य भी सफल हो जाता था।[37]

इसी विश्वास के कारण गुजरात के राजा व लोग यह सोच रहे थे कि कोई सिद्ध गुरु जादू से महमूद गजनवी को पालकी सहित खींचकर उनके चरणों में ले आएगा।[38]

इस प्रकार उत्तर भारत में तुर्क विजय के पूर्व अपने अस्तित्व के लिए लडने वाले छोटे-छोटे राज्यों के प्रसंग में इस नई विशेषता का महत्व उभरकर आया है। फलस्वरूप युद्ध में सफलता के निर्मित बने तन्त्र-मन्त्र और जादू को अनेक राजाओं ने उत्साह से अपनाया होगा।[39]

शक्ति प्राप्ति के लिए सिद्धियों में विश्वास

पूर्व-मध्यकाल में राजा अपने आपको अधिक से अधिक शक्तिशाली अर्थात् शूरवीर यौद्धा के रूप में दिखाना चाहते थे, जिससे उनको अधिक अभिमान हो गया था। *हर्षचरित* में बाण भट्ट कहता है कि निराभिमानी राजा मिलना कठिन है[40] लेकिन यह विशेषता पूर्व-मध्यकाल में ही नहीं थी बल्कि वैदिक काल से ही राजा अपने आप को शक्तिशाली दिखाने लगे थे। दान-स्तुतियों में इसका प्राचीनतम उदाहरण मिलता है।[41] राजा की प्रतिष्ठा और प्रभाव बढ़ाने के लिए उनके गुणगान के रिवाज को भाट्टों और चारणों ने बरकरार रखा और यह वर्तमान तक जारी रहा। राजाओं की छवि अक्सर जनश्रुतियों से भी बनती थी। प्रचलित किस्सों में उनकी ताकत का खूब यशगान किया जाता था। कौटिल्य ने पूरे राज्य में राजा की अलौकिक शक्तियों के प्रचार के लिए सिद्ध, पुरोहितों आदि को लगाने के लिए कहा है।[42]

गुप्त और गुप्तोत्तर काल में इस विश्वास में और वृद्धि हुई। इस काल मे राजा के पक्ष में आत्मश्लाधी प्रचार के अनेक उदाहरण मिलते हैं। कवि हरिषेण द्वारा रचित इलाहाबाद का अभिलेख विलक्षण उदाहरण है। इसमें समुद्रगुप्त की बहुमुखी उपलब्धियों का उल्लेख किया गया है। इसी तरह चन्द्र नामक राजा का उल्लेख किया गया है,[43] जिसने अपना विजय अभियान बैक्ट्रिया तक किया था। इसी प्रकार ईसा की छठी सदी में मालवा के यशोधर्मन नामक राजा को उसके प्रशंसकों ने हूणों पर विजय को गुप्तों से भी अधिक प्रशस्त विजय प्राप्त करने का श्रेय दिया है।

सातवीं शताब्दी में बाण भट्ट द्वारा रचित *हर्षचरित* में वृहत प्रशस्ति का सबसे अच्छा उदाहरण है। बाण अपने संपोषक हर्षवर्धन की उपलब्धियों की प्रशंसा मुक्तकंठ से करता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि इन प्रशंसाओं से राजा अधिक अभिमानी हो गए थे, जिसका वर्णन स्वयं बाण करते हैं कि निराभिमानी राजा मिलना कठिन है।[44] यह इस बात से और अधिक स्पष्ट होता है जब ग्यारहवीं शताब्दी में आए अरबी यात्री अलबेरूनी कहता है कि यहां की जनता (लोग) मानती है कि उनके राजा जैसा कोई दूसरा राजा नहीं।[45] नागभट्ट की ग्वालियर प्रशस्ति से उल्लेख मिलता है कि आंध्र, सैंधव, विदर्भ और कलिंग के राजा उनके आगे तभी धराशाही हो गए थे जब वे राजकुमार थे। राजा बनने के बाद उन्होंने कन्नौज के शासक चक्रयुद्ध को ही विजित नहीं किया बल्कि वंग, अर्नत, मालवा, किरात, तुस्ष्क, वत्स, मत्स्य आदि राजाओं को भी पराजित किया।

प्रारंभिक मध्ययुगीन दरबारी इतिहासकारों ने प्राचीन चक्रवर्ती राजाओं की विजयों की तरह अपने राजाओं की विजय की सूची बनाई और कवि ने अपने नायक को पारंपरिक सर्वविजय राजा की महिमा प्रदान की।[46] बिहार और बंगाल के पास शासक राजकुमार धर्मपाल ने एक अभिलेख में दावा किया है कि उसने संपूर्ण देश को जीत लिया था जिसमें भारत का उतर-पश्चिमी भाग भी शामिल था। लेकिन उतनी दूर तक उसके सैनिक अभियान को प्रमाणित करने के लिए कोई भी साक्ष्य नहीं मिला।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि प्रशस्तियों एवं जनश्रुतियों में ऐसे ब्यौरे

होते हैं, जो शब्दशः सत्य नहीं भी हो सकते लेकिन ये प्रशस्तियाँ हमें बताती हैं कि शासक खुद को कैसा दर्शाना चाहता था, मिशाल के लिए शूरवीर विजय यौद्धा के रूप में। पूर्व-मध्यकाल में राजाओं ने ऐसे चाटुकार कवि को प्रश्रय दिया जिनकी नजर अपने संरक्षकों की केवल विजय और विशेषताओं पर ही पड़ती थी। उन्हें संपोषकों की दुर्बलताएँ और असफलताएँ नहीं सूझती थी।[47] इसलिए प्राचीन भारत में बहुत बड़े प्रशस्ति साहित्य का सृजन इसलिए किया ताकि प्रजा राजाओं की कालजयी अजेय शक्ति की कायल बने। ये विद्वान ब्राह्मणों द्वारा रची गई थी, जो अक्सर प्रशासन में मदद करती थी।

इस प्रकार उपर्युक्त बिन्दुओं को ध्यान में रखकर कहा जा सकता है कि इस काल के बड़े राजाओं ने अपने अधिकार अपने अधीन राजाओं को सौंप दिए, जिससे क्षेत्रिय राजा अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र शासक हो गए। ये स्थानीय शासक जनजातिय एवं साधारण लोगों से संबंधित थे। इसी कारण इस काल में पहली बार असमिया, बंगाल, उड़ीसा, हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती आदि भाषाओं का उदय हुआ। इन्होंने अपने सांस्कृतिक स्तर को बढ़ाने के लिए ब्राह्मणों, विद्वानों, लेखकों, कवियों एवं तान्त्रिक गुरुओं की मदद ली और बदले में उन्हें भू-अनुदान दिए। यह नया शासक वर्ग ऋद्धि-सिद्धि, तन्त्र-मन्त्र और चमत्कारों में बहुत विश्वास रखते था, जिससे तान्त्रिक विचारों को विकसित होने में सहायता मिली।

इस तरह राजाओं ने प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से तान्त्रिक विचारों को फैलाने में सहायता पहुँचाई। मंदिरों, विहारों तथा मठों को भू-अनुदान देकर इनको गति प्रदान की। कृतज्ञ ब्राह्मणों एवं तान्त्रिकों ने उनके सांस्कृतिक स्तर को ऊपर उठाने के लिए उन्हें सूर्यवंश एवं चन्द्रवंश से संबंधित किया। इनके बढ़ते प्रभाव के कारण राजाओं ने अपने दरबार में आश्रय दिया। दरबार में स्थान मिल जाने के बाद तान्त्रिकों ने राजाओं की विभिन्न तरीकों से सहायता पहुँचाई। वे राजाओं की युद्ध में विजय के लिए शुभ मुहूर्त निकालते और विभिन्न अनुष्ठानों का विधान करते। इन्होंने शत्रुओं के लिए अशुभ भविष्यवाणी कर राजाओं के मनोबल को बढ़ाया। लेकिन यह कारण अंत में उनकी पराजय का एक कारण भी सिद्ध हुआ। इस प्रकार कहा जा सकता है कि तान्त्रिकों का

राजनीति पर मिला-जुला असर रहा। एक तरफ तो उनके विकास में सहायता दी, दूसरी तरफ मुस्लिम आक्रमणों के समय इनके राजनीतिक ह्रास का कारण भी सिद्ध हुए, जिससे 13वीं शताब्दी में उत्तर भारत में विदेशी शक्ति का शासन स्थापित हुआ।

पाद-टिप्पणी

1. वराहमिहिर कृत *वृहतसंहिता*, सावंतसर सूत्र विचार, पृ० 68
2. प्रकाश, बुद्ध, *भारतीय धर्म एवं संस्कृति*, पृ० 124
3. स्मिथ, वी०ए०, *अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया*, पृ० 340-44
4. प्रकाश, बुद्ध, *पूर्वोक्त*, पृ० 124-125
5. राजशेखर कृत *कूर्परमंजरी*, आठवां अध्याय।
6. *एपिग्राफिया इण्डिका*, पृ० 107-110
7. शर्मा, आर०एस०, *प्रारंभिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास*, पृ(98-99
8. *मनुस्मृति*, 7-8
9. प्रकाश, बुद्ध, *भारतीय धर्म और संस्कृति*, पृ० 122-24
10. भारती, धर्मबीर, सिद्धि साहित्य, पृ० 68
11. कौटिल्य कृत *अर्थशास्त्र*, चौथा अधिकरण, अध्याय-3
12. *साधनमाला*, पृ० 225
13. शास्त्री, हरप्रसाद का संस्करण, *अद्वयवज्रं संग्रह*, पृ० 24
14. कल्हण कृत *रजतरंगिणी*, 5-66
15. *वही*, 7.278
16. शास्त्री, हरप्रसाद का संस्करण, *पूर्वोक्त*, पृ० 24
17. *वही*, पृ० 28-29
18. अग्रवाल, वासुदेव शरण का संस्करण, *पदमावत*, पृ० 129
19. *याज्ञवल्क्य स्मृति*, खण्ड-1, 307
20. *विष्णुधर्मोतर पुराण* - II, 161.4
21. वराहमिहिर कृत *वृहत्संहिता*, साम्वतसर सूत्र विचार, पृ० 68-72
22. *कामंदकीयनीतिसार*, खण्ड-4, सं IV
23. बाणभट्ट कृत *हर्षचरित*, उच्छवास VII
24. वराहमिहिर कृत *वृहतसंहिता*, आदित्यचार विचार, पृ० 76-97
25. बाणभट्ट कृत *हर्षचरित*, पृ० 360-70

26. *मत्स्यपुराण*, अध्याय-242
27. *अग्निपुराण*, अध्याय-124, 288, 289
28. *वही*, पृ० 124
29. फ्रेदुनबेम द्वारा अनुदित अंग, *चचनामा*, पृ० 72-89
30. लामा, तारानाथ, *मस्टिक टेल्स*, पृ० 15
31. *वही*, पृ० 73
32. कौटिल्य कृत *अर्थशास्त्र*, अधिकरण 14, 3 अध्याय
33. बाणभट्ट कृत *हर्षचरित*, पृ० 360-370
34. सोमदेव कृत *कथासरित्सागर*, पृ० 106
35. शर्मा, रामशरण, *पूर्वोक्त*, पृ० 120-128
36. भट्टचार्य, बी० कृत *इण्ट्रोडक्शन टू बुद्धिस्ट एसोटेरिज्म*, पृ० 84-89 व *योगसूत्र भाष्य*, 4-1, 2-44
37. *वही*, पृ० 88
38. सूरी, जयसिंह कृत *कुमारपाल चरित*, पृ० 213 एवं बलूया द्वारा लिखित *हेमचन्द्र का जीवन चरित*, पृ० 64
39. शर्मा, रामशरण, *पूर्वोक्त*, पृ० 124
40. बाणभट्ट कृत *हर्षचरित*, 249
41. कौटिल्य कृत *अर्थशास्त्र*, अधिकरण 14
42. *वही*
43. *एपिग्राफिया इण्डिका* - 1/75, 11/42, 60, 21/48
44. बाणभट्ट कृत *हर्षचरित*, पृ० 249
45. शर्मा, रजनीकांत, *पूर्वोक्त*, 17वां परिच्छेद, पृ० 142
46. पाठक, विश्वम्भरशरण, *एन्शिएन्ट हिस्टोरिअन्स ऑफ इण्डिया*, पृ० 131-44
47. *वही*, पृ० 78-79

अध्याय - 6

आर्थिक जीवन में तान्त्रिक जीवन पद्धति

अर्थव्यवस्था मानव जीवन का महत्वपूर्ण अंग है। जब से सृष्टि की रचना हुई है तब से मनुश्य अपने जीवन निर्वाह के लिए वातावरण में जो भी वस्तु मिली उसका उपयोग अपने जीवन को सुखमय बनाने के लिए करता रहा है। प्राचीन काल से ही समाज का उत्कर्ष मनुष्य के आर्थिक जीवन की सम्पन्नता और समुन्नति पर निर्भर करता है। व्यक्ति का भौतिक, सांसारिक सुख भी उसके आर्थिक जीवन से प्रभावित होता है। आर्थिक जीवन में तान्त्रिक अनुष्ठान कैसे शामिल हुए अथवा किन परिस्थितियों में इन रिवाजों का विकास हुआ। स्वभावत: हम सभी यह जानना चाहेंगे। चूंकि इस काल में महत्वपूर्ण सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं, जिसमें एक महत्वपूर्ण आर्थिक परिवर्तन, जिसने जीवन के सभी पहलुओं को प्रभावित किया। भूमिदान तथा उससे उत्पन्न सामंतीय व्यवस्था का विस्तृत रूप से अपनाया जाना था, जिसमें ब्राह्मण वर्ग आर्थिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों की सेवा पर आश्रित हुआ। जब ये पिछड़े वर्ग ब्राह्मण संस्कृति के प्रभाव के अंतर्गत आए तो उनकी धार्मिक और आत्मिक तुष्टि के लिए ऐसी धार्मिक व्यवस्था आवश्यक थी, जिससे उनके परंपरागत धार्मिक विश्वासों और क्रियाओं को स्थान मिल सके। अत: कुछ देवी-देवताओं और धार्मिक कृत्यों को स्थान देना पड़ा, जिनका आर्थिक जीवन में भी प्रभाव पडा। इसके अलावा कुछ सामान्य तथा विशेष परिस्थितियाँ थी जो इसके लिए सहायक हो सकती थी। भाग्य और भाग्यवाद में आस्था बढ़ाने वाली सामान्य स्थितियाँ भारत की कोई विलक्षण विशेषता नहीं है बल्कि प्राचीन और मध्यकाल के सभी समाजों में ऐसे विचार व्यापक रूप से प्रचलित थे।[1] चीन में भविष्य-सूचक हड्डियों के पढ़ने का रिवाज सुविदित है। इसी प्रकार अनावृष्टि,

बाढ़, अतिवृष्ठि, अकाल इत्यादि विशेष परिस्थितियाँ बतलाती है कि मनुष्य जो करना चाहता है ईश्वर उसे विफल कर देता है।[2]

एक बार जब लोग भाग्य में आस्था रखने लगे, तब फिर इसको व्यक्त करने की आवश्यकता खड़ी हुई। लेकिन वैदिक साहित्य में इसके संकेत नहीं मिलते। *अथर्ववेद* में जो विषय-वस्तु की दृष्टि से आयोत्तर ग्रन्थ माना जाता है, अनिष्ठों और रोगों के निवारण के लिए अनेक विधियों और अनुष्ठानों का उल्लेख है, लेकिन इनमें शकुन-विचारों की अनुशंसा नहीं पाई जाती। प्रारंभिक दौर में भाग्य में आस्था को ब्राह्मणों ने नहीं बढ़ाया बल्कि आजीविकों जैसे वेद विरोधी पंथों ने इसे प्रोत्साहन दिया। उन्होंने प्रचार किया कि मानव का भाग्य स्थिर और पूर्वनिर्धारित होता है और जो कुछ विहित हो चुका है उस पर मनुष्य अपने मनोबल और कार्य-कलाप से विजय प्राप्त नहीं कर सकता।[3] इन सम्प्रदायों ने (महात्मा बुद्ध के समय) भविष्यवाणी या भाग्य बताने के कुछ तरीकों को निकाला। लेकिन ग्रहों और नक्षत्रों की स्थिति के अध्ययन के आधार पर जो भविष्यवाणियाँ की गई वे कौटिल्य के पूर्व तक प्रचलित (सार्वजनिक) नहीं हो पायी थी। क्योंकि कौटिल्य इसमें संदेह करते हुए कहते हैं कि जो मूर्ख लोग बहुत अधिक नक्षत्र की परवाह करते हैं, सफलता उनसे निवृत हो जाती है।[4] उन्होंने आगे कहा है कि अर्थ ही अर्थ का नक्षत्र होता है अर्थात् सम्पत्ति से ही सम्पत्ति प्राप्त होती है, तारे इस सम्बन्ध में क्या कर सकते हैं। सैंकड़ों यत्न करने के बाद ही मनुष्य अर्थ को प्राप्त करता है, जिस प्रकार हाथी से हाथी वश में लाये जाते हैं वैसे ही अर्थ से अर्थ की प्राप्ति होती है। सितारे इसमें क्या करेंगे?[5]

स्पष्टत: कौटिल्य सितारों की गति के आधार पर की हुई भविष्यवाणियों में विश्वास नहीं करते अर्थात् उस समय जो भविष्यवाणियाँ की जाती थी उसमें उनको संदेह था। लेकिन कौटिल्य शासक को कहना चाहता है कि धार्मिक प्रथाओं में इतने अधिक अंधविश्वास है कि इनका प्रयोग केवल राजकीय हितों में ही होना चाहिए तथा राजा को ऐसी मूर्खता से बचना चाहिए।[6]

गुप्त व गुप्तोत्तर काल में लोगों के मानसिक जीवन में ज्योतिष एवं शकुन विचार महत्वपूर्ण घटक के रूप में उभरा।[7] फलित ज्योतिष पर पहली महत्वपूर्ण रचना छठी शताब्दी में विरचित वराहमिहिर की *वृहतसंहिता* थी। इसमें समाज

के विभिन्न लोगों के भाग्य और उपज, व्यापार, वाणिज्य इत्यादि के ऊपर ग्रहों और नक्षत्रों की स्थितियों और गतियों का विस्तृत रूप से वर्णन है।[8]

व्यापार, वाणिज्य एवं यात्रा के लिए शुभाशुभ दृशय सर्वप्रथम पुराण ही दिखाते हैं। *मत्स्य पुराण* में यात्रा शुरू करने के लिए शकुनों और शुभ संकेतों से संबंधित चार अध्याय हैं।[9] पूर्व-मध्यकाल तक आते-आते ये प्रथाएँ तन्त्र के साथ घुल मिल गई[10] और इतनी बढ़ गई कि इनको कराने का खर्च बहुत बढ़ गया। *मत्स्य पुराण* में अपशकुनों और उनके प्रभाव को विफल करने के उपायों की लंबी सूची पाई जाती है। कालक्रम में नभोमंडलीय ग्रह के अर्थ में प्रयुक्त 'ग्रह' शब्द जनसाधारण की भाषा में 'संकट' और 'दुर्भाग्य' का पर्यायवाची माना जाने लगा।

पूर्व-मध्यकाल में भी आर्थिक जीवन का मूल आधार कृषि, पशुपालन, व्यापार तथा वाणिज्य बना रहा।[11] आर्थिक जीवन के दो आधार माने गए हैं - 1. कृषि संगठन, 2. गैर कृषि संगठन। कृषि संगठन में कृषि, कृषक व पशुपालन इत्यादि गतिविधियों का अध्ययन किया जाता है तथा गैर कृषि संगठन में व्यापार वाणिज्य उद्योग-धंधे, शिल्पकारों और व्यापारियों के श्रेणी संगठन इत्यादि का अध्ययन आता है।[12] आर्थिक जीवन को उत्प्रेरित करने वाली ये प्रवृतियां प्रत्येक युग में सहज रूप से स्वभावतः उद्भूत होती रही है तथा समाज को पुष्ट और स्वच्छ बनाने में सक्रिय योगदान प्रदान करती है। इस काल में तान्त्रिकों के आचार-विचारों का प्रभाव व्यापक था। आर०एस० शर्मा के अनुसार इसको समझने के लिए पूर्व-मध्यकाल की आर्थिक एवं सामाजिक प्रवृत्तियों की भूमिका को समझना आवश्यक है।[13]

भू-अनुदानों की भूमिका

पूर्व-मध्यकाल में जो आर्थिक परिवर्तन दृष्टिगोचर हाते हैं। उनमें एक महत्वपूर्ण आर्थिक परिवर्तन भू-अनुदान तथा उससे उत्पन्न सामंती व्यवस्था का विस्तृत रूप से अपनाया जाना था।[14] पूर्व-मध्यकाल की उल्लेखनीय विशेषता थी पुरोहितो तथा मंदिरों को बड़े पैमाने पर भूमिदान देना। भूमिदानों से मध्यदेश की ब्राह्मण संस्कृति के फैलाव में नया आयाम जुड़ गया। यह प्रक्रिया सातवाहन

काल से ही शुरू हो गई थी लेकिन पूर्व-मध्यकाल में इसमें काफी वृद्धि हो गई। ब्राह्मणों का गांवों की ओर (मध्यदेश से बाहर) देशांतर शहरों के ह्रास से भी जुड़ा था। व्यापार के ह्रास के कारण जीविका के स्त्रोत सूख गया और फलतः पुरोहित वर्ग के लोग गांव की ओर लौट चले। इन देशांतरों का प्रयोजन ग्रामीण क्षेत्रों में भूमि प्राप्त करना था। स्पष्ट है कि इन सीमावर्ती नगरों का पूर्व-मध्यकाल में ब्राह्मणीकरण सम्पन्न हो चुका था और संभव है कि यहां वे ब्राह्मण स्थानीय मूल के रहे हों। भूमि अनुदान प्राप्त करने वाले ब्राह्मणों के मूल स्थान उनकी अनुदान भूमि से 100 मील से अधिक दूर नहीं रहे होंगे।

भूसंपत्तिधारी ब्राह्मणों की नई बस्तियां बसने से पुरानी तथा नई आबादियों के बीच आर्थिक एवं सामाजिक, धार्मिक सामंजस्य की समस्या खड़ी हुई। ब्राह्मण दानभोगियों के कृषि विषयक उन्नत ज्ञान से इन इलाकों के मूल निवासियों को आर्थिक लाभ हुआ। दानभोगियों को राजकीय सैन्यबल तो प्राप्त था लेकिन नए किसानों से अपने देयों की वसूली के लिए वे राज्यों के अमलों पर निर्भर नहीं थे। उन्हें सामान्य लोगों के साथ आर्थिक संबंधों की अपनी नई व्यवस्था स्वयं विकसित करनी पड़ी। इसके लिए जरूरी था पिछड़े वर्ग की परम्परागत धार्मिक विश्वासों और क्रियाओं को ब्राह्मणीय समाज व्यवस्था में उचित स्थान देना। इनके सम्पर्क का पहला उदाहरण हमें *कादंबरी* में मिलता है, जिनमें शबरों द्वारा किए गए कृतों से बाण स्वयं स्तंभित थे।[15] पुलिंदों के साथ भी ब्राह्मणों के संबंध के संकेत मिलते हैं।[16] देश के इन भागों अर्थात् सीमावर्ती भागों में मातृदेवी की पूजा का विशेष बोलबाला था। संभव है कि मातृदेवी की पूजा बहुत पहले से ही मौजूद हो लेकिन उत्तरोत्तर फैलती हुई सर्वव्यापी ब्राह्मणीय परंपरा में उन्हें छठी सदी में आकर नियमित स्थान मिला।

आज का कोई भी तन्त्रपीठ पांचवी-छठी सदी से पूर्व का नहीं है। मातृदेवी को चौसंठ रूपों में अभिव्यक्त करने वाली चौसंठ योगिनियों के लगभग सभी मंदिर मध्यप्रदेश तथा उड़ीसा के जनजातीय क्षेत्रों में अवस्थित है।

हमें चौसठ योगिनियों के पांच मंदिरों कीं जानकारी है। एक जबलपुर के निकट भेड़ाघाट में दूसरा खजुराहों में। इन दोनों मंदिरों का आरंभ नौंवी सदी से ढूंढा जा सकता है। तीसरा संबलपुर के निकट उड़ीसा के भूतपूर्व पटना राज्य के

रामपुर नामक स्थान में, चौथा उड़ीसा में ही कालाहांडी[17] जिले में, पांचवां मंदिर उत्तरप्रदेश के ललितपुर जिले के दुधई नामक स्थान में है।[18] स्पष्ट है कि ये मंदिर जनजातीय देवियों को हिंदू धर्म में स्थान देने के लिए हिन्दुओं के तत्वाधान में पूर्व-मध्यकाल में बनाए गए। सीमावर्ती क्षेत्रों में मातृदेवी के मंदिर स्थापित कर दिए जाने के बाद उन्हें बौद्ध तथा ब्राह्मण दोनों धाराओं की संस्कृत रचनाओं के माध्यम से प्रतिष्ठा दिलाने का प्रयत्न आरंभ हुआ जिसमें हिन्दुओं ने जनजातियों की मातृदेवी की पूजा शक्ति (दुर्गा) के रूप में तथा बौद्ध ने तारा देवी के रूप में पूजा होने लगी।

ब्राह्मणीय धर्म मध्यदेश से उसके बाहर के इलाकों में फैला जबकि तंत्र संप्रदाय बाहरी क्षेत्रों से मध्यदेश में फैला। भूमिदानों के कारण बाह्य क्षेत्रों में कृषि दासता का जन्म हुआ[19] और साथ ही नई प्रकार की भक्ति तथा तंत्र का भी उदय हुआ। अंत में तीनों तत्वों ने मध्यदेश में प्रवेश किया। बाहरी क्षेत्रों के लोगों को अपनी धार्मिक एवं सामाजिक व्यवस्था में समायोजित करने के कार्य में वहां के ब्राह्मणों ने जो सफलता पाई उसके कारण मध्यदेश के रूढ़िवादी ब्राह्मणों की निगाह में उनका कद कम हुआ। तेरहवीं सदी के हेमाद्रि नामक दकनी भाष्यकार ने एक पूर्ववर्ती पाठ को उद्धृत किया है, जिसमें कहा गया है कि अंग, वंग, कलिंग, सौराष्ट्र, गुर्जर, आभीर, कोंकण, द्रविड़, दक्षिणापंथ, अवंति और मगध के ब्राह्मणों से दूर ही रहना चाहिए।[20]

देवी और लौकिक दोनों धरातलों पर तंत्र संप्रदाय के संस्थागत पक्ष का विकास पूर्व-मध्यकाल की आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था के अभिन्न अंग के रूप में हुआ। तान्त्रिक मठों, मंदिरों तथा आचार्यों का निर्वाह भूमिदानों की बदौलत होता था, जिससे एक प्रकार की सामंती व्यवस्था की सृष्टि हुई। तान्त्रिक मठों तथा देवकुलों का स्वरूप उस श्रेणीबद्ध सामाजिक एवं प्रशासनिक संगठन के ढंग पर तैयार किया गया जो आठवीं सदी या उसके आसपास तक सामंती व्यवस्था की विशेषता बन चुका था।[21] अनेक तांत्रिक रचनाओं में हमें तंत्र धर्म में दीक्षित लोगों की चार से सात श्रेणियों तक देखने को मिलती हैं।[22] आचार्य के अभिषेक की व्यवस्था तो बिल्कुल सामंती अभिषेक के विधिविधानों के अनुकरण पर की गई है।[23] इससे स्पष्ट होता है कि यहां (सीमावर्ती) धर्म

के मामले में लौकिक जगत के आचार-व्यवहार को अपनाया गया था। इस प्रभाव के कारण पुराने देवी-देवताओं को सेवकों, द्वारपालों, दिक्पालों आदि के रूप में गौण स्थान दिया गया, जबकि नई समाज व्यवस्था को प्रतिबिंबित करने वाले शिव तथा विष्णु प्रमुख देवता बन गए।[24] इस प्रकार भू-अनुदानों ने तन्त्र के आचार-विचारों को प्रसार करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।[25]

कृषक जीवन में तान्त्रिक आचार-विचार

प्राचीन एवं मध्यकाल में तान्त्रिक अनुष्ठान भारत में ही नहीं बल्कि विश्व के अन्य देशों में भी प्रचलित थे। चीन में इसका उदाहरण मिलता है जहाँ 1500 ई० पू० में जानवरों की हड्डियों पर राजा लोग लिपिकारों से हड्डियों पर सवाल लिखवाते थे कि-

क्या वे युद्ध जीतेंगे?

क्या उन्हें पुत्र होंगे?

क्या फसलें अच्छी होंगी?

फिर इन हड्डियों को आग में डाल दिया जाता था जहाँ इनमें गर्मी से चटक कर दरारें पड़ जाती थी। भविष्यवक्ता इन दरारों को बड़े ध्यान से देकर भविष्यवाणी करने की कोशिश करते थे। लेकिन कभी-कभी ये भविष्यवक्ता गलती भी करते थे। भारत में ये परंपराएँ प्राचीन काल से ही चली आ रही थी। चूंकि ये (किसान वर्ग) लिखना-पढ़ना नहीं जानते थे, इसलिये इस वर्ग ने कब इन रिवाजों को अपनाया इसका ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सकता। लेकिन ये अपनी परम्परा पीढ़ी दर पीढ़ी सिखते रहे और जब इन क्षेत्रों में ब्राह्मणों ने अपनी बस्तियां बसाई तो इनके बारे में साहित्यिक जानकारियां छठी-सातंवी शताब्दी में मिलने लगी। इसका सबसे महत्वपूर्ण उदाहरण छठी शताब्दी में वराहमिहिर द्वारा रचित *वृहत्संहिता* है जिसमें पहली बार समाज के विभिन्न लोगों के भाग्य और उपज, व्यापार-वाणिज्य इत्यादि के ऊपर ग्रहों और नक्षत्रों की स्थितियों और गतियों के प्रभाव का विस्तृत रूप से वर्णन किया है।[26]

वृहतसंहिता में क़िसानों को अपनी उपज को बढ़ाने के लिए, बीजों को सुरक्षित रखने, तथा धन-धान्य की अभिवृद्धि के लिए अनेक क्रियाओं का

उल्लेख किया है। साथ ही ऐसे नक्षत्रों का भी जिक्र इसमें आया है जिसमें सूर्यबिम्ब में स्थित तामस, कीलक, केतु के होने से मेघ जल नहीं बरसाते, नदियाँ जल रहित हो जाती हैं, धन-धान्य कुछ उत्पन्न नहीं होता। जब चन्द्र मण्डल अधिक छोटा हो तो दुर्भिक्ष एवं हलवाहों की पीड़ा आदि का उल्लेख इस ग्रन्थ में हुआ हैं। इसमें कपास की उपज को बढ़ाने के उपाय भी बताए गए हैं।[27] इस प्रकार कहा जा सकता है कि किसानों को ग्रह व गति में नक्षत्रों की स्थितियों में गहरा विश्वास था।

इसी प्रकार पूर्वी भारत में कृषि पर लिखित *कृषि पराशर* नामक ग्रन्थ ग्यारहवीं शताब्दी के प्रबंध में किसानों के लिए कृषि संबंधी मंत्र-तन्त्र और जादू-टोने का विस्तृत वर्णन है।[28] इसमें पहली बार हल चलाने[29] और बीज[30] बोने के लिए शुभ अवसरों और अनुष्ठानों की चर्चा है। इसमें एकाएक मेंढ़कों का बोलना, मोरों का नाचना, चीटियों का अंड़ों के साथ बाहर आना और साँपों का पेड़ की चोटी पर चढ़ना सन्निकट[31] वर्षा के सूचक बताए गए हैं। इसके विपरित बैलों तथा हल के विभिन्न भागों पर अनिष्ट होना अपशकुन माना गया है। कहा गया है कि वे किसान, उसकी पत्नी, उसके पुत्र और भाई की मृत्यु और कृषि[32] के ह्रास के संकेत हैं। फिर भी बैलो का चित्कारना और पेशाब करना शुभ माना गया है और इससे अच्छी उपज होने का संकेत बताया गया है।[33] ये पूर्वाभास कृषक के लिए हल और बैलों के महत्व को स्पष्टत: निरूपित करते हैं। इन दोनों को प्रभावित करने वाली कोई दुर्घटना किसान के परिवार के भविष्य के लिए बहुत गंभीर मानी जाती है। इन अपशकुनों अथवा ग्रहों के प्रभावों को हटाने के लिए जप, पूजा जैसे तान्त्रिक अनुष्ठान किए जाते थे और ये अनुष्ठान पूर्व-मध्यकाल में इतने बढ़ गए कि इनमें से कुछ अनुष्ठान प्राय: एक माह तक चलते थे।

सितारों और नभोमंडलीय ग्रहों की गतियों के प्रभावों का संबंध जीवन के उन विशिष्ट लक्षणों से है जो कृषिपरक पर्यावरण में पाए जाते हैं। किसानों में विवाह, पर्व इत्यादि के लिए कौन-कौन से शुभ अवसर हैं ये खेतिहर समाज की जरूरतों और सुविधा को देखकर बताए गए हैं। यह कोई संयोग की बात नहीं है कि विवाह के शुभ दिन प्राय: तभी होते हैं जब एक फसल की कटनी समाप्त हो जाती है और दूसरी की बोआई आने में कुछ देर रहती है।[34]

पूर्व-मध्यकाल में अनेक दुर्भिक्ष पड़ते थे जिनका उल्लेख *वृहतसंहिता, कथासरित्सागर, राजतरंगिणी, दशकुमारचरित* आदि में आया है। *शुक्रनीतिसार* के अनुसार जो अनाज पूर्ण रूप से पका हुआ, चमकीला, अच्छे रंग वाला हो, राजा को अपने भंडारगृह में रखना चाहिए ताकि आगामी तीन वर्ष तक प्रजा को खाद्यान्न उपलब्ध कराया जा सके। इससे पता चलता है कि दुर्भिक्ष कई सालों तक भी पड़ सकते थे, जिससे बचने के लिए राजा तालाब व बांध बनवाते थे।[35] कृषि मुख्यत: मानसून की वर्षा पर ही निर्भर करती थी। कृषि के लिए अनुकूल वर्षा की कामना करते हुए राजशेखर[36] ने कहा है कि

मेहों मुचंदु संचंद विसलिल सस्सांचिद भूदले
अर्थात् मेघ जल को भूतल पर कृषि के अनुकल बरसाय।

संभवत: तान्त्रिक, सिद्ध लोग भी कुएं व तालाब खुदवाने के लिए अपने तरीकों से पानी के भूमिगत स्त्रोतों का भी पता बताते थे। वे कुए तथा तालाब खुदवाने के लिए उचित स्थान चुनते थे। जिसका उदाहरण हमें 1967 ई० सन् में बिहार के अकाल में पलामू जिले में मिलता है जहाँ कुछ आदिवासी पुरोहितों ने अभियंताओं को भूमिगत पानी का पता लगाने में सहायता की।[36क]

साधारणत: मैथुन तन्त्र संप्रदाय के निकृष्टतम अनुष्ठानों में गिना जाता है, किन्तु भारत तथा अन्य देशों के आदिम जनों के मनोवैज्ञानिक अध्ययनों से प्रकट होता है कि कामानुष्ठान उनके कृषि विषयक जादू-टोने का महतवपूर्ण अंग थे। ऐसी मान्यता थी कि इनसे धरती की उर्वरा शक्ति और लोगों की समृद्धि बढ़ती है। चूंकि खेतीबाड़ी के काम की देखरेख मूलत: और खासकर बागवानी वाली अवस्था में स्त्रियाँ करती थी, इसलिए इस कोटि में धर्माचारों का उद्भव और विकास केवल उन्हीं के हाथों हुआ।[37]

देवी-देवताओं को प्रसन्न करने तथा भूत-प्रेतों को भगाने के बहुत से उपाय जनजातियों से ही अपनाए गए। जंगली जड़ी-बूटियों का ज्ञान भी शायद उन्हीं से प्राप्त किया होगा। ये जरूरी तौर शिक्षित नहीं होते थे, इनमें से कुछ लोगों ने जनसाधारण की भाषा में पहले से ही विद्यमान तान्त्रिक विषयों को न सिर्फ संस्कृत भाषा का जामा पहनाया, बल्कि धर्मतत्वज्ञों के द्वारा इन मान्यताओं और आचारों को सुव्यवस्थित भी करवाया। इस संप्रदाय का संस्थागत पक्ष

समकालीन सामंती श्रेणी-विन्यास से प्रेरित हुआ। सबसे बुरा यह हुआ कि अन्य धार्मिक आंदोलनों की तरह तंत्र धर्म को भी अवकाश तथा सुख-सुविधा का उपभोग करने वाले उच्च वर्गों ने हथिया लिया और उनके हाथों में पड़कर वह उनकी कामेच्छा तथा अन्य ऐंद्रिक वासनाओं की तुष्टि का साधन बनकर रह गया। जहां-तहां ब्राह्मणों ने तंत्र को जोर से अपना लिया और इसके सुधारवादी स्वरूप को कुठित कर दिया। मिथिला में ऐसा ही हुआ, खजुराहो तथा कोर्णाक की कामोद्दीपक मूर्तियाँ अत्यंत खर्चीले शौक की देन है। उनका निर्माण कराना सरदारों तथा भूमिपतियों की ही सामर्थ्य की बात थी।[38]

व्यापारियों का तान्त्रिक अनुष्ठानों में विश्वास

आर्थिक जीवन के दो आधार माने गए हैं। एक कृषि संगठन जिसका हम वर्णन कर चुके हैं तथा दूसरा गैर कृषि संगठन। गैर कृषि संगठन के अंतर्गत व्यापार, वाणिज्य, उद्योग-धंधे, शिल्पकारों और व्यापारियों आदि के श्रेणी संगठन आते हैं। व्यापारी प्राचीन काल से ही संगठन बनाकर व्यापार करते थे, जिसको *ऋग्वेद* में 'पणि' कहा गया है। वैदिक साहित्य में 'श्रेष्ठि' तथा 'गण' जैसे शब्दों का उल्लेख भी व्यापारियों के संगठन के लिए आया है।[39] पूर्व-मध्यकाल में व्यापारियों के समूह का निगम कहते हैं। वीरमित्रोदय ने नैगम के अभिप्राय को इस प्रकार स्पष्ट किया है। निगम विशेष रूप से नगर के व्यापारियों के हितों की देखरेख करने वाली संस्था प्रतीत होती है तथा एक ही व्यवसाय का अनुसरण करने वालों को श्रेणी की संज्ञा प्रदान की है।[40] मेधातिथि के अनुसार कुम्हार, धोबी, मालाकार, जुलाहा, चर्मकार, महावत, तेली, शिकारी तथा, चिड़िमारो की अनेक अलग-अलग श्रेणियाँ थी।[41] पूर्व-मध्यकाल में तान्त्रिक अनुष्ठानों का जीवन के हर क्षेत्र में प्रयोग होता था तो व्यापारी इससे कैसे अछूते रह सकते थे। जैन धर्म का प्रभाव व्यापारियों पर था। इस काल में जैन धर्म में भी तान्त्रिक आचार-विचार आ गए थे, जिसका उदाहरण पश्चिमी भारत में मिलता है, जहाँ जैन धर्म के प्रभाव के कारण कुछ तान्त्रिक ग्रंथों का संकलन पूर्व-मध्यकाल में गुजरात, महाराष्ट्र तथा कर्नाटक में किया गया।[42] आठवीं सदी के आसपास गुजरात के हरिभद्र सूरि ने *समराइच्चकहा* की रचना

की। यह शास्त्रीय दृष्टि से तांत्रिक रचना नहीं है। लेकिन तांत्रिक आचारों-विचारों से ओत-प्रोत हैं। इंद्रनंदी कृत *ज्वालीनी कल्प* की रचना मान्यखेत में 939 ई० सन् में पूरी हुई। यद्यपि मैसूर जिले के चामरजनगर ताल्लुके में द्रविड़ संप्रदाय के एक तांत्रिक आचार्य ने ज्वालीनी पूजा का प्रवर्तन पहले ही किया था।[43] इसी प्रकार 947 ई० सन् में एक और जैन मुनि ने मैसूर में '*भैरव पद्मावती कल्प*' नामक तांत्रिक ग्रंथ का संकलन किया। चूंकि व्यापारियों का जैन धर्म में दृढ़ विश्वास था। इस काल में जैन धर्म में तान्त्रिक विचारों के समावेश के साथ-साथ व्यापारी वर्ग पर भी इसका प्रभाव पड़ा। ये ग्रहों और नक्षत्रों में विश्वास करने लगे थे, जिसका उदाहरण हमें *वृहतसंहिता* में मिलता है।

वृहतसंहिता[44] के मार्ग विधान कथा में आया है कि यदि चन्द्र श्रृम कुछ-कुछ उन्नत होकर नौका के सदृश विशालता को प्राप्त हो तो उस समय नाविकों को हानि होती है। यदि युग संस्थागन में चन्द्र के दक्षिण श्रृग का अग्रभाग कुछ-कुछ उन्नत हो तो वह पाश्रृशायी संस्थान होता है। इसमें महाजनों-व्यापारियों और वृष्टि दोनों को हानि होती है। इस ग्रंथ में ध्यान देने योग्य बात यह है कि अपने कल्याण की कामना करने वाले व्यापारियों को उस देश में निवास नहीं करना चाहिए जहाँ दैवज्ञ नहीं रहता हो, क्योंकि नेत्र स्वरूप देवज्ञ जहां निवास करते हैं वहाँ पाप नहीं रहता है। अलबेरूनी एक फल विक्रेता की कहानी का उल्लेख करते हुए कहता है कि एक रंक नामक फल विक्रेता जादुई क्रियाओं से नगर का स्वामी बन गया,[45] जो दर्शाता है कि इस काल में तान्त्रिक आचार-विचारों का व्यापारी वर्ग पर भी प्रभाव था।

हेमचन्द्र (श्वेतांबर पंथी लेखक) ने यह उपदेश दिया कि जैन साधुओं के लिए उपाश्रय की व्यवस्था करना बहुत ही हितकारी है क्योंकि वहाँ उनके लिए भोजन, पानी, वस्त्र और बिछौने की व्यवस्था करना बहुत ही हितकारी है। यही नहीं उपाश्रयों में रहकर वे गर्मी, सर्दी और कीड़ों-मकोड़ों से भी अपनी रक्षा कर सकेंगे। अपरिग्रह की भावना का कम होना, साधुओं ने मंदिरों के निर्माण को बढ़ावा दिया।[46] जैन साधुओं ने भी साधारण जनता को लगातार यह उपदेश दिया जाने लगा कि वे खूब मेहनत किया करें और अपनी मेहनत की कमाई से साधु-समाज की सहायता करें।[47]

कोलिक (जुलाहे) का ऐसा ही उदाहरण मिलता हैं जिन्होंने अपने धन लाभ की कामना तथा समाज में सम्मान प्राप्ति के लिए दान व मन्दिरों का निर्माण करवाया। नासिक के एक गुहामंदिर का निर्माण किया। नासिक के ही एक अन्य गुहालेख में राजा ईश्वरसेन द्वारा कुलरिको (कुम्हारों) की श्रेणि के पास एक हजार कार्षापण, औदयन्त्रिक (पनचक्कियाँ चलाने वाली) श्रेणि के पास दो हजार कार्षापण और तिलपिषकों (तेलियों) की श्रेणि के पास पांच सो कार्षापण अज्ञयनीवी के रूप में जमा कराये जाने का उल्लेख है।[48] इस अज्ञयनीवी का प्रयोजन यह था कि इस धन के सूद से तिररिम विहार के निवास करने वाले भिक्षुओं की औषधि का खर्च चल सके। इसके अलावा गुप्त वंशी राजा स्कन्दगुप्त ने एक लेख में इन्द्रपुर निवासीनी तैलक का उल्लेख आया है, जिसके पास कुछ धन इस प्रयोजन से जमा कराया गया था ताकि उसके सूद से सूर्य-मन्दिर के दीपक का खर्च चलता रहे, इसमें यह भी उल्लेख है। यह श्रेणि इन्द्रपुर को छोड़कर कहीं अन्यत्र भी क्यों न जा बसे, तो भी यह धन इसी के पास जमा रहेगा।[49] कुमार गुप्त के अभिलेख से मालूम होता है कि पटकारों के अनेक सदस्यों ने अपना वंशक्रमानुगत शिल्प का परित्याग कर ज्योतिष, शकुन विचार, धनुर्विद्या आदि अन्य विधाएँ सीखी और उनमें से कुछ व्यक्ति संन्यास की दीक्षा ग्रहण कर धार्मिक जीवन व्यतीत करने लगे।[50] इससे स्पष्ट होता है कि कुछ शिल्पकार भी सिद्ध परम्पराओं की शिक्षा लेने लगे थे। हमें 64 सिद्धों में एक सिद्ध तन्तिया की जाति का पता चलता है जो तन्तुवाय (जुलाहा) था। *सस्क्य ब्कं बुम्* के अनुसार तन्तिया उज्जैन के तन्तुवाय थे, तंजूर में इनके एक ग्रन्थ का उल्लेख है जिसका नाम '*चतुर्योग भावना*' था।

श्रेणि संगठनों में निम्न जातीय के लोग थे। *कुलार्णवतन्त्र* के अनुसार शक्ति की पूजा में उसका प्रतिनिधित्व चंडाली, चर्मकारी, मागधी, पुक्कसी, खट्टकी, कैवर्ती, वैश्ययोषितः, शस्त्रजीवी, कौंचिकी या कौंदुकी, शौंडिकी, रंजकी, गायकी, रजकी, शिल्पी, कौलिकी आदि करते हैं। इस सूची में मुख्यतः शूद्रो तथा अस्पृश्य जातियों के नाम आए हैं।[51] मेधातिथि के अनुसार कुम्हार, धोबी, मालाका, जुलाहा, चर्मकार, मंहावत, तैली, शिकारी, चिड़िमार की अनेक अलग श्रेणियाँ थी।[52] ये शक्ति की पूजा तान्त्रिक आचार-विचारों से करते थे।

बारहवीं-तेरहवीं सदियों की कृति *जयद्रथयमल*[53] में कहा गया है कि परमेश्वरी (काली) की पूजा के लिए तेलियों तथा कुम्हारों के घरों में जाकर उनके सान्निध्य में पूजा करना आवश्यक है।[54] इस प्रकार स्पष्ट है कि व्यापारी वर्ग भी इस काल में तान्त्रिक साधनाओं में विश्वास करने लगा था और इनमें से कुछ ने तान्त्रिक साधना में सिद्धि प्राप्त की।

अन्य व्यवसाय

राजशेखर के ग्रन्थों में ज्योतिष, तांत्रिक, गायक एवं नर्तक, नट आदि के व्यवसायों का उल्लेख मिलता है।[55] *विष्णुधर्मोतरपुराण* में पुरोहितों के अतिरिक्त साम्वत्सर की नियुक्ति का उल्लेख मिलता है।[56] कामंदक के अनुसार साम्वत्सर वह है जिसे ग्रहों की जानकारी रहती है तथा प्रश्नों के उत्तर देने में चतुर और दक्ष फलित ज्योतिषी (होरागणितत्वविद) होता है।[57] लेकिन साम्वत्सर के बारे में सातवीं-आठवीं शताब्यिों के साहित्यिक उल्लेखों के बावजूद उसके पद को किसी समकालीन अभिलेख में जिक्र नहीं है। वस्तुतः मध्ययुग के मध्य तक अभिलेखों में फलित ज्योतिषी की पदीय स्थिति को मान्यता नहीं मिल पाती है। ग्यारहवीं शताब्दी के बाद में गहडवाल अभिलेखों[58] में ज्योतिषियों और नैमित्तिकी का उल्लेख मिलता है और ग्रामीण संसाधनों के अनुदान के द्वारा उनके वेतन भुगतान की चर्चा करता है।

इस प्रकार तान्त्रिकों की दृष्टि सम्प्रदाय-निरपेक्ष एवं भौतिकवादी थी। इस सम्प्रदाय को अर्थ, धर्म, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति कराने वाला भी बताया गया है। तान्त्रिकों ने मनुष्यों की भौतिक कामनाओं की पूर्ति के लिए निमित्त अनेक प्रकार के गुह्य अनुष्ठानों का विधान किया गया। अकाल एवं सुखे की स्थिति में तान्त्रिक कुएँ और तालाब खोदने के लिए पानी के भूमिगत स्त्रोतों का पता बताकर किसानों की सहायता करते थे। इसके साथ-साथ इन्होंने कीड़ों से फसलों की रक्षा तथा अनाज को सुरक्षित रखने के तरीकों के बारे में बताकर उनकी सहायता की।

व्यापारिक वर्ग ने व्यापार-वाणिज्य में लाभ प्राप्त करने के लिए तान्त्रिक क्रियाओं का सहारा लिया। वे ग्रहों एवं नक्षत्रों की स्थिति के आधार पर यात्राएँ

करते थे। ये विभिन्न शुभ, अशुभ घटनाओं में विश्वास करने लगे थे। चांडाल आदि के दर्शन उनके लिए अशुभ माने जाते थे। इन शुभ एवं अशुभ घटनाओं का कारण तान्त्रिक अपने ढंग से बताते थे। ये अव्यवस्था की दशा में समाज को व्यवस्थित करने की कोशिश करते, ये लोगों में पहले करने और नेतृत्व प्रदान करने में भी मदद करते थे, जिससे व्यक्ति अपने कार्यों के विषय में निर्णय लें, इसके लिए वातावरण तैयार करते थे। इन्होंने धन-वृद्धि एवं मोक्ष प्राप्ति के लिए दान-दक्षिणा एवं तीर्थों को बढ़ावा दिया। ऐसे करने वाले व्यक्तियों के लिए धन लाभ एवं मोक्ष की प्राप्ति की कामना की गई।

इस तरह प्रत्येक व्यक्ति को अपने भाग्य के अनुसार फल पाना था इसलिए उसके पास शिकायत के लिए कोई कारण नहीं रहता था, जिसके कारण वर्गीय तनावों तथा सामाजिक संघर्षों की कम ही गुंजाइश रहती थी। सामान्य व्यक्ति की सफलता और गुणवान की असफलता से लोग परेशान नहीं होते थे क्योंकि उनके लिए तो यह सब भाग्य का खेल था। इस प्रकार कहा जा सकता है कि विभिन्न वर्गों के जीवन के जितना निकट तन्त्र सम्प्रदाय था, उतना अन्य कोई सम्प्रदाय नहीं हुआ। शायद यही कारण है कि इसके मूल तत्त्व आज तक कायम हैं।

पाद-टिप्पणी

1. काणे, पी०वी०, *हिस्ट्री ऑफ धर्म शास्त्र*, भाग-3, पृ० 277
2. शर्मा, आर०एस०, *प्रारंभिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास*, पृ० 120
3. बाशम, ए०एल०, *हिस्ट्री एण्ड डाक्ट्रिन्स ऑफ दि आजीविक*, अध्याय - XII
4. कौटिल्य कृत *अर्थशास्त्र*- V.2-3
5. *वही*, IX.-4
6. *वही*, V.-4
7. शर्मा, रामशरण, *पूर्वोक्त*, पृ० 122
8. वराहमिहिर कृत *वृहतसंहिता*, अध्याय-11, श्लोक 42, 62
9. *मत्स्यपुराण*, अध्याय 242
10. शर्मा, रामशरण, *पूर्वोक्त*, 125
11. शर्मा, बी०एल०, *इकनोमिक आइडियाज इन एंशियंट इण्डिया बिफोर कौटिल्य*, पृ० 39

12. चक्रवर्ती, रणबीर, *ट्रेड एट मनडिपीका इन अर्ली इन्डियन सोसायटी*, पृ० 187–188
13. शर्मा, आर०एस० *अर्ली मिडिवल इण्डियन सोसायटी : ए स्टडी इन फ्यूलेडिज्म*, पृ० 260
14. गोपाल, लल्लन जी, *इकनामिक लाइफ ऑफ नादर्न इण्डिया*, पृ० 42
15. पेटर्सन, पी० का संस्करण, *कादंबरी*, पृ० 224–25
16. *जर्नल ऑफ बिहार एंड ओडिसा रिसर्च सोसाइटी*, XVI. 81–82
17. प्रकाश, विद्या, *खजुराहो*, पृ० 11
18. शास्त्री, हरप्रसाद, *ए कैटलाग ऑफ पाम-लिफ एंड सैलेक्टेड पेपर नेपाल दरबार लाईब्रेरी*, प्रस्तावना, पृ० LXXVIII
19. शर्मा, आर०एस०, *पूर्वोक्त*, पृ० 235–260
20. *वही*, पृ० 245
21. चंद, आर०पी०, *दी इंडो आर्यन रेशेज*, पृ० 184
22. शर्मा, आर०एस०, *पूर्वोक्त*, पृ० 235–265
23. *वही*, पृ० 235–265
24. *वही*, पृ० 260–265
25. *वही*, पृ० 260–265
26. वराहमिहिर कृत *वृहतसंहिता*, कुसुमलता विचार, पृ० 408
27. *वही*, पृ० 408–410
28. मजूमदार, जी०पी०, सं० *कृषि पराशर*, श्लोक – 120
29. *वही*, श्लोक–121–156
30. *वही*, श्लोक 157–185
31. *वही*, श्लोक 65–70
32. *वही*, श्लोक 144–49
33. *वही*, श्लोक 150–51
34. षर्मा, आर०एस०, *प्रारंभिक भारत का आर्थिक सामाजिक इतिहास*, पृ० 121–28
35. *शुक्रनीतिसार*, 4, 2–27–29
36. राजशेखर कृत *काव्यमीमांशा*, श्लोक 23
36क. शर्मा, आर०एस०, पूर्वोक्त, पृ० 121
37. भट्टाचार्य, एन०एल० द्वारा संकलित संदर्भ सरकार, डी०सी०, सं०, *दा शक्ति कल्ट एंड तारा*, पृ० 68–69, 143–46
38. शर्मा, आर०एस०, *अर्ली मिडिवल इण्डियन सोसायटी : ए स्टडी इन फ्यूलेडिज्म*, पृ० 262–64
39. चक्रवर्ती, रणबीर, *पूर्वोक्त*, पृ० 187–188

40. विज्ञानेश्वर कृत *मिताक्षरा,* 2.192
41. मेधातिथि द्वारा *मनुस्मृति पर टीका* पृ० 8.41
42. शर्मा, आर०एस०, *पूर्वोक्त,* पृ० 250–60
43. *वही,* पृ० 260
44. वराहमिहिर कृत *वृहतसंहिता,* वृहस्पतिचार विचार, अध्याय–8, पृ० 200–31
45. शर्मा, रजनीकांत, *अलबेरूनी का भारत,* सत्रहवां परिच्छेद, पृ० 142
46. शास्त्री, हरप्रसाद, उपर्युक्त, प्रस्तावना, पृ० LXXVIII
47. *वही,* पृ० LXXVIII
48. *एपिग्राफियाइंडिका* नं. 34.11, पृ० 31–32
49. *वही,* नं. 9, पृ० 1–5
50. *वही,* नं. 29, पृ० 14
51. *कुलार्णवतन्त्र*–1, पृ० 42–45
52. मेधातिथि द्वारा *मनुस्मृति पर टीका,* 9.330
53. बागची, पी०सी०, *आन सम तांत्रिक टेक्स्टस स्टडीज इन एनशिएंट कम्बुज, इंडिया हिस्यरिकल क्वार्टरली,* पृ० 768
54. शास्त्री, हरप्रसाद, *ए कैटेलाग ऑफ पाम–लिफ एंड सेलेक्टेड पेपर मैन्युस्क्रिप्टस बिलांगिग टु दि दरबार लाइब्रेरी नेपाल,* पृ० LXVIII
55. राजशेखर कृत *काव्यामीमांसा,* अध्याय–10, पृ० 138
56. *गौतम धर्म सूत्र* – मास्की भाष्य संपादक, लं० श्रीनिवासाचार्य, 1917–2, 161.4
57. *कामान्दकीरयनीतिसार,* खंड–4, 33
58. *एपिग्राफिया इण्डिका,* पृ० 274

अध्याय - 7

उपसंहार

भारतीय इतिहास में शोध के क्षेत्र में पूर्व-मध्यकाल (700 ई० सन् - 1200 ई० सन्) काफी महत्वपूर्ण माना जाता है, क्योंकि इसमें अनेक राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन दिखाई देते हैं, जिन्होंने समाज के हर पहलू को प्रभावित किया। गुप्तोत्तर काल में क्षेत्रीय ताकतें मजबूती से उभरी और सामंतवादी ढांचे के अनुरूप ढलने लगी। केन्द्रीकृत सत्ता के अभाव में हर्षवर्धन के बाद छोटे-छोटे राजवंशों ने अपना आधिपत्य जमाने के लिए आपस में परस्पर काफी समय तक संघर्ष किया। लेकिन इसमें कुछ बड़े राज्य भी थे पर वे भी आपसी संघर्ष से बाहर नहीं निकल पाए। इसी समय तुर्कों के आक्रमण के कारण जीवन में भय एवं अस्थिरता का वातावरण पैदा हो गया था।

भय व अस्थिरता के इस वातावरण में शक्तिवाद का विचार पूर्व-मध्यकाल में उभरकर सामने आता है, जो तान्त्रिक विचारधारा का मूलाधार था। राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक आदि कारणों ने शक्तिवाद के सिद्धान्त में सहायता पहुंचाई जिससे यह एक संस्था के रूप में उभरा और समाज के प्रत्येक पहलू को प्रभावित किया। इस प्रकार भारतीय संस्कृति के यथार्थ बोध के लिए वेद का ज्ञान जितना आवश्यक है, उतना ही तन्त्र का भी। दोनों के मंजुल (मनोहर) समन्वय के ऊपर ही वह शोभन वस्तु आधारित है, जिसे हम भारतीय संस्कृति के नाम से पुकारते हैं। प्रस्तुत लघु शोध प्रबन्ध में किया गया अध्ययन दर्शाता है कि तन्त्रवाद की शुरूआत यद्यपि वैदिक काल से ही हो गई थी लेकिन यह 7वीं शताब्दी में ही स्पष्ट रूप से दिखाई देता है और नौवीं सदी में अपने चरम बिन्दू पर पहुंच जाता है। प्रस्तुत लघु शोध प्रबन्ध में लगभग 500

वर्ष की अवधि को शामिल किया है और यह मुख्य रूप से पुराणों एवं तन्त्र ग्रन्थों पर आधारित है। तन्त्र को एक ओर तो परम सत्य ज्ञान, कठोर संयम, उदारता, भक्ति भावना का भंडार माना जाता है जो कि परम आध्यात्मिकता प्राप्ति के लिए अनिवार्य है, तो दूसरी ओर इसकी निंदा भी की जाती है, क्योंकि इसमें कुछ ऐसी रचनाएँ हैं जिनमें अनर्थक शब्द रहस्य विडंबना, अस्पष्ट या स्पष्ट अश्लीलता, घृणित स्वेच्छाचारिता तथा नैतिकता - विरोधी तत्त्व पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं, लेकिन इससे इतना तो स्पष्ट है कि ऐसी जटिल धार्मिक पद्धति का जिसमें उत्कृष्ट और निकृष्ट तत्वों का सम्मिश्रण है। आविर्भाव एकाएक नहीं हो सकता था, और न ही उनका उद्भव किसी एक स्त्रोत से है। ऐसा प्रतीत होता है कि तन्त्रवाद का विकास कई अवस्थाओं से होकर गुजरा, जिसका मूल प्राचीन मातृदेवी से जुड़ा है।

इस काल में तन्त्रवाद के विकास में बहुत सारे तत्वों ने सहयोग दिया। पहला सातवीं शताब्दी तक पुराणों का संकलन, संपादन और वर्गीकरण किया जा चुका था। अत: 7वीं से 13वीं शदी तक के इस काल को 'पुराणोत्तर युग' कहा जाता है। इस काल में प्राय: सभी धर्म-सम्प्रदायों पर पुराणों का प्रचुर प्रभाव पड़ा। पुराणों में अवतारवाद और बहुदेवोपासना का समर्थन किये जाने से, तथा समन्वयात्मक लोकधर्म का प्रचार आदि से तंत्रों की आकर्षक साधना का उदय हुआ। जिससे सभी धर्म संप्रदायों में बड़े क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। दूसरा उत्तर भारत में हर्षवर्धन का पैतृक राज्य थानेश्वर था, किन्तु परिस्थितियों ने उसे थानेश्वर के साथ ही साथ कन्नौज जैसे बड़े राज्य का भी स्वामी बना दिया था। थानेश्वर राज्य वैदिक धर्म के प्राचीन केन्द्र कुरु जनपद के अन्तर्गतत था, जहाँ सदा से ही वैदिक और उससे प्रभावित भागवत, शैव, शाक्त आदि धर्म-सम्प्रदायों का प्रचलन था। जब देश के अन्य भागों में बौद्ध और जैन धर्मों का व्यापक प्रचार हो गया, तब भी थानेश्वर और उसके निकटवर्ती भाग में वे अपेक्षाकृत कम प्रचलित हुए थे। कन्नौज की स्थिति भारतवर्ष के हृदयस्थल और उसके परंपरागत सांस्कृतिक रंगमंच मध्यदेश के प्राय: केन्द्र में थी। जब कन्नौज नगर हर्षवर्धन के साम्राज्य की राजधानी हुआ तब वह समस्त देश की गतिविधियों का भी प्रेरणा स्त्रोत बन गया था। उनकी धार्मिक नीति सहिष्णुतापूर्ण

थी और वह सभी धर्मों का सम्मान करता हुआ उन्हें राज्याश्रय प्रदान करता था। उसके काल में मथुरामंडल में भी सभी संप्रदाय बिना रूकावट के अपने-अपने ढंग से फलते-फुलते रहे। तीसरा - तान्त्रिक पूजा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर आश्रित थी। सिद्धों का मानना है कि संसार के प्रपंचों में पड़ने वाला व्यक्ति अपने सांसारिक कार्यों में उलझ कर अपनी क्षमताओं का विकास नहीं कर पाता। उनका चेतन मन कतिपय विचारों तथा आचारों को सुलझाने में ही व्यस्त रहता है। उसके अचेतन मन में पड़ी हुई अगाध, अपरिसीमित तथा अनद्बुद्ध विचारधारा को चेतन मन के स्तर पर आने के लिए अपने अवसर की प्रतीक्षा किया करती है। उन सबको उद्बुद्ध कर चेतन स्तर पर लाने से ही मानव की समस्या सिद्ध हो सकती है। इसलिए इस युग में वह बहुत ही समर्थ उपादेय और उपयोगी मानी जाती है। चौथा - तान्त्रिक साधना का मूल सिद्धान्त था, प्रवृत्ति द्वारा सिद्धि और मुक्ति को प्राप्त करना और वह भी कामोपभोग द्वारा। यह एक ऐसा आकर्षक सिद्धांत था कि उसकी ओर इस काल के सभी प्रमुख धर्म-संप्रदाय बड़ी ललक के साथ दौड़ पड़े थे। क्योंकि इन संप्रदायों में भोग-प्रवृत्ति और काम-चेष्टा को उदात कर्म नहीं माना गया और जब तंत्राचार्यों ने कायाकष्ट की अपेक्षा कामोपभोग द्वारा ही कल्याण और निर्वाण के प्राप्त होने की संभावना व्यक्त की तब उनकी ओर साधकों का आकर्षण होना स्वाभाविक था। पांचवा - इसका विकास उन भू-अनुदानों से भी कहीं-न-कहीं जुड़ा हुआ है, जो ब्राह्मणों, मंदिरों, विहारों तथा विश्वविद्यालयों को दिए गए। उन्हें अनुदान के रूप में जो भूमि मिली हुई थी उसमें कानून एवं व्यवस्था कायम रखने के नाम पर किसी तरह का राजनीतिक हस्तक्षेप नहीं था। आगे चलकर इन मंदिरों और विहारों ने मठों का रूप ले लिया जिन्होंने तान्त्रिक आचार-विचारों को फैलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। छठा - इस अध्ययन में यह भी सामने आया है कि इसके विकास में अवैदिक लोगों ने भी सहायता पहुँचाई। साधारणतयया तंत्रों का प्रसिद्ध नाम आगम है। इसके आगम (आये हुए) नाम से यह समझा जा सकता है कि वे वेदोक्त ज्ञान की प्राचीन धारा के अतिरिक्त अन्य स्त्रोत से आये हैं। पुराणों में लिखा है कि तंत्र ऐसे ब्राह्मणों द्वारा प्रवर्तित थे जिन्हें द्विज सुलभ वेद-पाठन के अपने अधिकार को खो दिया था

और जो रूढ़िवादी ब्राह्मणों द्वारा नीची निगाह से देखे जाते थे। लेकिन तन्त्र वेद से भिन्न उस शास्त्र का नाम है जिसमें पुरुष शक्ति एवं स्त्री शक्ति की एकता द्वारा विविध साधनाओं, आचारों और पूजा पद्धति से सिद्धि और मुक्ति को सरलतापूर्वक प्राप्त करने का विधान है।

इस काल में तन्त्रवाद के कई महत्त्वपूर्ण स्थल उभरकर सामने आते हैं, जिसमें कामाख्या (कामरूप) सबसे महत्वपूर्ण तान्त्रिक स्थल था। जनश्रुतियों में भी यहाँ का जादू भयंकर माना गया है। यहाँ पर बौद्ध एवं शैव संप्रदायों के बहुत से साधकों ने तन्त्रों के रहस्यों की शिक्षा ली थी। इसका दूसरा महत्वपूर्ण स्थल मध्यदेश में 'श्री पर्वत' था जो कापालिकों एवं वज्रयानियों की साधना का केन्द्र था। इसके अलावा जालन्धर (पंजाब), दुथई (उत्तरप्रदेश), बालगीर (रामपुर-उड़ीसा), तिरूपति में पद्मावती का मंदिर और राजस्थान में बालाजी का प्रसिद्ध वैष्णव मंदिर आदि तान्त्रिक पूजा के महत्वपूर्ण स्थल थे। उपर्युक्त स्थलों के अतिरिक्त बहुत सारे छोटे पीठ थे जिनके आधार पर हम कह सकते हैं कि तान्त्रिकों का मुख्य केन्द्र पूर्वी भारत था, किन्तु इसके साधना स्थल भारत के समस्त क्षेत्रों में प्राये जाते थे, जिनमें अधिकतर तान्त्रिक पीठ भारत के सीमांतीए क्षेत्रों में थे।

इसमें दर्शाया गया है कि पंचमकार (मद्य, मत्स्य, मांस, मुद्रा तथा मैथुन) के उपयोग के कारण तान्त्रिक सम्प्रदाय की निंदा की जाती है लेकिन तान्त्रिक साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि पंचमकारों के वास्तविक महत्व को दुष्ट प्रकृति के लोगों ने जानबूझकर गन्दा कर डाला। इसमें मद्य का अर्थ वह अमृतमय धारा बताई गई, जो मस्तिष्क के उस कोश में फूटती है जहां आत्मा का निवास है। दूसरे शब्दों में मद्य का अर्थ सुरा एवं उसका प्रतिनिधि, यथा नारियल का जल या कोई पेय पदार्थ बताया। इसका अर्थ वह मत्त करने वाला ज्ञान भी है जो योग-क्रियाओं के उपरांत प्राप्त होता है जिसके द्वारा साधक बाह्य संसार के लिए एक प्रकार से संज्ञा शून्य हो जाता है।

इसमें मांस को वह कर्म बताया गया जिसके द्वारा साधक अपने एवं अपने कर्म को भगवान शिव को समर्पित कर देता है। मांस का अन्य अर्थ मौन व्रत भी बताया गया है। तन्त्र साहित्य में मत्स्य का अर्थ प्राणोच्छ्वासो का अवदमन

बताया गया (इसके प्रथम शब्द मत् का अर्थ मेरा) जो वह मानस स्थिति है जिसके द्वारा साधक प्राणियों के सुख एवं दुख से सहानुभूति रखता है। मैथुन का अर्थ मूलाधारचक्र में शक्ति कुण्डलिनी में (मनुष्य की देह में स्थित नारी) तथा सहस्त्राचक्र में परम शिव का मस्तिष्क के सर्वोच्च केन्द्र में सम्मिलन है और वह सहस्त्रार से चुने जाने वाले मधुर-रस की धार है और सृष्टि के कर्मों पर ध्यान रखना भी बताया गया है।

यौन संबंध तान्त्रिक पूजा का निकृष्ट अंग माना जाता है। किन्तु मानववैज्ञानिक अध्ययनों से प्रकट होता है कि भारत में तथा बाहर के प्राचीन (आदिम) लोगों में यौन-क्रियाओं को कृषि संबंधी अभिचार क्रियाओं का आवश्यक अंग माना गया है। उन लोगों में यह विश्वास था कि ऐसी क्रियाओं से पृथ्वी की उर्वरा शक्ति बढ़ती है। ये तान्त्रिक कृत्य प्रजनन क्षमता की वृद्धि के लिए किए जाते थे। प्राचीन काल में कृषि स्त्रियों के व्यवसाय क्षेत्र के अंतर्गत था। अत: ऐसी क्रियाओं का उन्हीं के बीच आरंभ एवं विकास हुआ।

तान्त्रिकों का मूल सिद्धान्त है, प्रवृत्ति द्वारा सिद्धि और मुक्ति को प्राप्त करना। यह दो तरीकों से किया जा सकता था। भोग एवं भाव - एक ओर कहा गया है कि भोग से ही काम को वश में किया जा सकता है तो दूसरी ओर भाव को भी मुख्य आधार माना। *गंधर्वतन्त्र* में भी कहा गया है कि उपयोग की विधि तथा भावना से ही वस्तु पवित्र या अपवित्र होती है। वह स्वयं में न पवित्र है न अपवित्र। तन्त्राचार्यों का मानना है कि चित्त में जब तक जिस विषय के संस्कार रहेंगे, तब तक उस विषय का त्याग नहीं हो सकता। कृत्रिम उपायों से यथार्थ त्याग नहीं हो सकता। चित्त में स्थित वासना अपने आप ही शुद्ध योग्य वस्तु के मिलने से तृप्त हो जाती है और ऐसा होने पर उसके फिर उत्पन्न होने की संभावना नहीं रहती। इस प्रकार तन्त्र में भोग व भाव से सिद्धि और मुक्ति प्राप्त करने का मार्ग बताया गया।

हिन्दू धर्म में जहां देवताओं को प्रमुख स्थान दिया जाता था वहीं आश्चर्यजनक रूप से तान्त्रिक सम्प्रदाय ने नारी को प्रमुख स्थान दिया। उनका मानना है कि प्रत्येक जीवन स्त्री के गर्भ से ही उत्पन्न होता है और मूलभूत सृष्टि का सिद्धान्त स्त्री में है। उसे चाहे ब्रह्मा की प्रकृति माया कहा जाए या फिर

पौराणिक पार्वती, दुर्गा, लक्ष्मी या राधा के नाम से पुकारा जाए। ये वस्तुतः जगन्माता (मातृदेवी) के विभिन्न नाम है। सभी देवता ब्रह्मा, विष्णु, महेश केवल जगन्माता में स्थित है और उसी से उत्पन्न होते हैं। अतः मातृदेवी की पूजा की अनुशंसा की गई, जिनकी बौद्धों में तारा, जैनो में सचिवा देवी और हिन्दू धर्म में पार्वती, दुर्गा, लक्ष्मी, काली आदि देवियों के नाम से उनकी पूजा की जाने लगी।

बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त, पंचरात्र वैष्णव आदि धर्म-संप्रदायों के आधार पर तन्त्रों में भी कितने भेद हैं, किन्तु साधना की दृष्टि से उनकी अनेक बातों में बड़ी समानता है। इसके कारण उनके भेदों में भी अभेदता दिखलाई देती है। इन सबमें शक्तिवाद का महत्व और पुरुष एवं स्त्री-शक्ति की एकता मान्य है चाहे उसके लिए विभिन्न नामों का प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार इन सभी संप्रदायों ने मुक्ति और भौतिक कामनाओं की पूर्ति के लिए अनेक प्रकार के अनुष्ठानों का प्रयोग किया। इन संप्रदायों में तत्वदर्शन गौण था और भक्ति दर्शन (साधना) प्रमुख था। भक्ति भाव के कारण इस काल में अनेक लोक प्रचलित देवी-देवताओं का इन संप्रदायों में समाहार किया गया।

इसमें चर्च्या (ब्रह्म धार्मिक कृत्य) क्रिया (मंदिर निर्माण तथा मूर्ति पूजा), योग तथा ज्ञान के द्वारा मुक्ति और भुक्ति से इस लोक की सिद्धि ऐश्वर्य तथा इष्टदेव के साथ अद्वैत भावना प्राप्त की जा सकती है। तान्त्रिक साधना में मंत्र बीज, गूढ़ार्थ अक्षर या पदांश, यन्त्र तथ मूद्रा को विशेष महत्व दिया गया। यद्यपि इनके द्वारा साधक सिद्धियाँ प्राप्त करता है तथापि साधक का परम लक्ष्य ईश्वर या इष्टदेव से तादात्म्य स्थापित करना है। तान्त्रिक क्रियाओं की जटिलता के कारण यह आवश्यक समझा गया कि साधक को गुरू से दीक्षा लेनी चाहिए। जहाँ पहले शूद्रों को सामाजिक सम्मान नहीं था, लेकिन इस युग में आकर इनके सम्मान में वृद्धि हुई। इनके लिए अब दीक्षा का द्वार खोल दिया जो पहले ब्राह्मण, क्षेत्रिय व वैश्यों का विशेषाधिकार था। इसके साथ-साथ काश्तकारों के रूप में जमीन में उनके कुछ अधिकार भी कायम किये तथा इसके अलावा इनके प्रभाव से स्त्रियों के सम्मान में भी वृद्धि हुई। शूद्र आचार्य

शूद्रों तथा चंडालों को दीक्षा दे सकते थे और कुछ यज्ञ भी संपादित कर सकते थे।

तान्त्रिकों का दृष्टिकोण उदार था, ये सामान्य रोगों के साथ ही सांप, चूहे और विषैले कीड़ों के काटने तथा प्रेम बाधाओं के निवारण के लिए अनेक अनुष्ठानों एवं उपचारों का विधान करते थे। रोगोपचारों के अलावा उन्होंने अनाजों की रक्षा के उपाए भी बताए थे। वे मातृदेवी के खास भक्त माने जाते थे और अपने पास आए व्यक्तियों के भविष्य के बारे में भी बताते थे। क्या वे रोग से मुक्त होंगे? क्या उनको बच्चे पैदा होंगे? ऐसे प्रश्न लोगों द्वारा पूछे जाते थे। तान्त्रिक अधिकांशत: स्वीकारात्मक उत्तर देते थे और कुछ शर्तें भी बताते थे, जिनका पालन अपनी मनोकामना की पूर्ति चाहने वाले यजमान को करना पड़ता था। इस प्रकार पूर्व-मध्यकालीन तान्त्रिकों ने पुरोहितों, चिकित्सकों, वैद्यों तथा ज्योतिषियों के रूप में काम कर आम आदमी की सामाजिक एवं भावात्मक आवश्यकताओं को पूरा किया।

तान्त्रिकों ने आम आदमी की ही सहायता नहीं की बल्कि राजनीतिक क्षेत्र में अर्थात् राजा, महाराजा आदि की भी अपने तरीकों से सहायता की। उन्होंने पूर्व-मध्यकाल के जनजातीय राजाओं की वंशावली को सूर्यवंशी तथा चंद्रवंशी से संबंधित किया। वे लड़ाई के मैदान में राजाओं के देवत्व को घोषित कर और यौद्धाओं के पास विजय के लक्षणों की चर्चा कर राजाओं का मनोबल ऊँचा करते थे। वे राजनीतिक विद्रोहों और जन उत्तेजना फैलाने वालों के लिए अशुभ परिणामों की भविष्यवाणी कर ऐसी घटनाओं को रोकते थे। वे दोषियों का पता लगाने में मदद करते थे। अत: उन्होंने पुलिस और सैनिक व्यवस्था को अधिक कारगर बनाया और युद्ध तथा शांति के समय उनकी मनोदशा को संतुलित किया।

ये मानव जीवन के प्रति एक विशिष्ट दृष्टि रखते थे। तन्त्र, मानव की सम्पूर्णता तथा समग्रता का पक्षपाती था। उनके अनुसार संसार के प्रपंचों में पड़ने वाला मानव अपनी शक्ति का पूर्ण विकास नहीं कर पाता। उसका चेतन मन कतिपय विचारों तथा आचारों को सुलझाने में ही व्यस्त रहता है, उसके अचेतन मन में पड़ी हुई अगाध, अपरिसीमित तथा अनुद्बुद्ध विचारधारा चेतन

मन के स्तर पर आने के लिए अपने अवसर की प्रतीक्षा करती रहती है, लेकिन सांसारिक व्यक्ति के लिए ऐसा अवसर नहीं आता। अत: इन सबको उद्‌बुद्ध कर चेतन स्तर पर लाने से ही मानव की समग्रता सिद्ध हो सकती है। उन्होंने मनुष्य को स्वभावत: युगल रूप माना। न पुरुष नारी के बिना पूर्णता पा सकता है न नारी पुरुष के बिना। इन दोनों का सामंजस्य आध्यात्मिक विकास की पूर्णता के लिए इन्होंने अभिष्ट माना। तान्त्रिक भाषा में इसका नाम है 'युगनद्ध' (संयोजन)। इस प्रकार तान्त्रिक पूजा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर आश्रित थी। इसीलिए इस युग में वह बहुत समर्थ, उपादेय और उपयोगी मानी जाती है। इस प्रकार तन्त्राचार्यों की दृष्टि सर्वथा संप्रदाय-निरपेक्ष एवं भौतिकवादी थी। विभिन्न वर्गों के जीवन के जितना निकट तंत्र संप्रदाय था उतना अन्य कोई सम्प्रदाय नहीं था।

दरअसल, इन मान्यताओं तथा धर्माचारों को उन धर्मतत्वज्ञों ने सुव्यवस्थित किया जिन्होंने जनसाधारण की बोलियों में पहले से ही विद्यमान तान्त्रिक विषयों को संस्कृत भाषा का जामा पहनाया। इस संप्रदाय का संस्थागत पक्ष समकालीन सामंती श्रेणी-विन्यास से प्रेरित हुआ। लेकिन सबसे बुरा यह हुआ कि अन्य धार्मिक आंदोलनों की तरह तन्त्र धर्म को भी अवकाश तथा सुख-सुविधा का उपभोग करने वाले उच्च वर्गों ने हथिया लिया और उनके हाथों में पड़कर वह उनकी कामेच्छा तथा अन्य ऐंद्रिक वासनाओं की तुष्टि का साधन बनकर रह गया। मिथिला में ऐसा ही हुआ। खजुराहो तथा कोणार्क की कामोद्दीपक मूर्तियाँ अत्यंत खर्चीले शोक की देन है। उनका निर्माण कराना सरदारों तथा भूमिपतियों की ही सामर्थ्य की बात थी।

प्रस्तुत लघु-शोध प्रबन्ध के अध्ययन के बाद कहा जा सकता है कि इस सम्प्रदाय में तोड़-फोड़ का जोश तो काफी था लेकिन सृजन और निर्माण क्षमता कम थी। इसके साधकों ने समाज को ललकारा, शास्त्रों को फटकारा, पुरोहितों को धिक्कारा और उनके सभी रीति-रिवाजों की भर्त्सना की लेकिन कोई व्यवस्था तैयार न कर पाए, जिससे समाज का नवनिर्माण, पुनर्जागरण, सुदृढ़ संगठन और सुनियोजित संस्थापन किया जा सके। उन्होंने मानव एकता और समानता पर बल दिया लेकिन इसके लिए संस्थाओं का नक्शा नहीं

खींचा। किन्तु इस विचारधारा के कुछ लाभ भी रहे। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में तान्त्रिक साधना की अभिव्याप्ति थी। यह केवल व्यक्तिगत लाभ के लिए नहीं बल्कि समाज, राष्ट्र और अखिल विश्व के लिए लक्ष्य रखती थी। तंत्रवाद ने भारतीय रसायन शास्त्र के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इसके अन्तर्गत रासायनिक क्रियाओं द्वारा धातुओं को बदल देने, नवीन कल्पित रत्नों के निर्माण करने, अमूल्य यन्त्रों के निर्माण करने और अन्नवृद्धि, पुरुषार्थवृद्धि, आयुवृद्धि के अनेक प्रयोग किये। इसके साथ-साथ शत्रु राष्ट्र पर विजय प्राप्त कराने तथा अतिवृष्टि, उत्पात, महामारी, महर्धता आदि के निवारण के लिए तान्त्रिक साधनाएँ अमोध सिद्ध हुई। स्त्रियों की दशा सुधारने तथा जाति-पांति के बन्धनों को शिथिल बनाने में भी तान्त्रिक विचारधारा का कुछ योगदान समझा जा सकता है। इसमें एक ही देवी-देवता की पूजा पर विशेष बल दिया जाता था। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि इसके अधिकतर हिस्सों का संबंध लोगों के रोजमर्रा के जीवन से जुड़े आचार-व्यवहारों से था। इस विचारधारा ने पूर्व-मध्यकाल में भक्ति आंदोलन को भी वेग प्रदान किया। तान्त्रिक सहजयान से ही नाथ सम्प्रदाय का उदय माना जाता है, जिसने मध्यकाल में कबीर, दादू, नानक आदि सन्तों के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

प्राचीन काल के विपरीत पूर्व-मध्यकाल में तन्त्रवाद पर पर्याप्त साहित्य उपलब्ध है। इससे यह अभिप्राय: निकलता है कि तान्त्रिक क्रियाएँ पूर्व-मध्यकालीन भारतीय जीवन की प्रमुख विशेषता थी। लेकिन इस मामले में प्राचीन विचार मध्ययुगीन विचार से अधिक भिन्न नहीं थे। ई०एच० कार का मानना है कि स्थिति, समय और स्थान के परिप्रेक्ष्य में इतिहास का पुनर्निर्माण करने वाले शोधकर्ताओं को ऐसी पाई जाने वाली भिन्नताओं पर ध्यान देना पड़ेगा लेकिन यह इतिहास तभी अर्थपूर्ण बनाया जा सकता है जब भारत और अन्य देशों की आदिम जातियों के बीच प्रचलित इसी प्रकार के रिवाजों का अध्ययन किया जाए। सरसरी निगाह से देखने से भी पता चलता है कि तान्त्रिक अनुष्ठान एवं प्रवृत्तियाँ भारत और उसके बाहर की अनेक आदिम जातियों में पाई जाती है, जहां इस प्रकार का विस्तृत अध्ययन है। इस प्रकार यह शोध इस विषय के लिए काफी नहीं है। इसके लिए और अधिक शोध की आवश्यकता

है जिससे पूर्व-मध्यकालीन उत्तर भारत में तान्त्रिक जीवन पर ओर अधिक स्पष्ट प्रकाश डाला जा सके। प्रस्तुत लघु-शोध प्रबन्ध इस दिशा में एक प्रयास है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

मूल ग्रंथ

अथर्ववेद : संपादक आगे के लिए (सं०) विश्वबंधु, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थानम्, होशियारपुर, 1962

अथर्ववेद का स्वाध्याय : सं० सातवलेकर, दामोदर, श्रीपाद, सतारा, 1927

अद्वयवज्रसंग्रह : संपादक शास्त्री, हरप्रसाद, बड़ौदा, 1927

अग्निपुराण : सं० पन्नालाल जैन, वाराणसी, 1963

आदि पुराण : जिनसेन, अनुवाद, पन्नालाल जैन, काशी, 1933

अर्थशास्त्र : कौटिल्य कृत सं० शाम शास्त्री, मैसूर, 1909

अष्टाध्यायी : पाणिनी कृत, निर्णय सागर, बम्बई, 1929

अद्वयसिद्धि : लक्ष्मीङ्करा कृत गायकवाड ओरियंटल सीरीज, बड़ौदा, 1920

अमरकोष : सं० शास्त्री गुरूप्रसाद, वाराणसी, 1950

अहिबुध्न्यसंहिता : सं० रामानुजाचार्य एम०डी०, आडयार लाइब्रेरी, मद्रास, 1916

आपस्तम्ब श्रोत सूत्र : चोखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1969

ईश्वरसंहिता : सं० शास्त्री वासुदेव, निर्णय सागर, बम्बई 1929

ऐतीरीय संहिता : अनु० कीथ, हार्वर्ड ओरियंट सीरीज, कलकत्ता–1920

ऋग्वेद संहिता : सं० पं० श्रीपाद दामोदरसातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, गुजरात, 1983

कृत्यकल्पतरू : लक्ष्मीधर कृत सं० रंगास्वामी अ"यंगर, भाग–2, गायकवाड ओरियंटल सीरीज, बड़ोदा–1944

कृषि पराशर : सं० मजुमदार, जी०पी० एंड बनर्जी एस०सी०, कलकत्ता, 1960

कल्कि पुराण : सं० शास्त्री अशोक, वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1942

कालिका पुराण : सं० षास्त्री, षिवनारायण, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1972

कादंबरी : सं० पैटर्सन, पी०, बम्बई संस्कृत सीरीज, बम्बई–1900

कर्म पुराण : श्रीराम शर्मा, वेदमूर्ति, तपोनिष्ट, बरेली, 1971

कोल ज्ञान निर्णय : सं० बागची, पी०सी०, कलकत्ता, 1934

कोलावलीनिर्णय : सं० एवलन, आर्थर, कलकत्ता, 1985

कुलार्णव तन्त्र : सं० जीवानन्द, कलकता, 1867

कुर्मपुराण : सं० मुखोपाध्याय नीलमणि, कलकता, 1860

कुब्जिकामत तन्त्र : सं० हरप्रसाद शास्त्री, कलकता, 1905

किरण तन्त्र : सं० हरप्रसाद शास्त्री, ऐ कैटलॉग ऑफ पाम-लिफ नेपाल दरबार लाईब्रेरी, कलकता, 1905

गुह्यसमाजतन्त्र : सं० शास्त्री, हरप्रसाद, बड़ौदा, 1931

गोतम धर्मसूत्र : मस्की भाष्य सहित, संपादक ली० श्रीनिवासाचार्य, मैसूर, 1917।

चचनामा : अली, अहमद, अनुवादित मिर्जा कालीचबेग फ्रेदुनबेग, कराची, 1990

चरक संहिता : सं० चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस, 1983

चर्यापद : सं० बस मर्णीन्द्रमोहन, कलकता, 1938

जयाख्यासंहिता : सं० हरप्रसाद शास्त्री, कलकता, 1905

जायसी ग्रंथावली : सं० शुक्ल, रामचन्द्र, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी, 1924

जैमिनी : सं० रघुवीर, लाहौर, 1937

तन्त्रराजतन्त्र : सं० बुडर्फ जॉन, कलकता, 1981

तैतिरीय संहिता : सं० आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, बनारस, 1934

दोहाकोष : सं० पी०सी० बागची, कलकता, 1935

न्याय दर्शन : गंगानाथ झा, चौखम्बा सीरीज, बनारस, 1977

नारद स्मृति : जे० जाली द्वारा सम्पादित, वाराणसी, 1965

परशुरामकल्पसूत्र : गायकवाड़, ऑरियंटल सीरीज, बड़ौदा, सं० शास्त्री, महादेव, 1923

परमेश्वरी तन्त्र : सं० शास्त्री, हरप्रसाद, कलकता, 1905

प्रज्ञोपायविनिश्चय सिद्धि : सं० डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य, बड़ौदा, 1929

पुरश्चर्यार्णव, भाग-1,2,3 : सं० महाराज प्रताप सिंह, बनारस, 1901

पदमावत : सं० अग्रवाल, वासुदेव शरण, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी, 1980

पद्म पुराण : सं० जैन पन्नालाल, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1944

पारानन्द सूत्र : सं० चन्द्र, वैध सुभाष, मोतीलाल बनारसीदास, 1987

पाराशर स्मृति : मध्यावार्च, भाष्य संहिता, बम्बई, 1883-1911

बृहस्पति स्मृति : एम० फयूहर, लिपजिंग, 1874

ब्रह्मसूत्र शंकर के भाष्य सहित : सं० शास्त्री, वासुदेव, निर्णय सागर, बम्बई, 1929

ब्रह्मवैवर्त पुराण : श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1906

बौद्धगान ओ' दोहा : सं० शास्त्री, हरप्रसाद, कलकत्ता, 1923

भगवतगीता : चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1962

भविष्यपुराण : सं० दास पुरनापराजन, गीता प्रेस, 1945

मनुस्मृति : मेधातिथिभाष्य सहित, कलकता, 1932–39 तथा मनुस्मृति और कुल्लुक का भाष्य, चौखम्भा, संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1970

मेरूतन्त्र : श्रीकृष्णदास खेमराज प्रकाशन, बम्बई, 1935

मत्स्य पुराण : सं० जमना दास, अख्तर, दिल्ली, 1972

मिस्टिक टेल्स, लामा तारानाथ : सं० व अनुवादक, दत्ता, बी०एन०, कलकता, 1944

महाभारत, अनुशासन पर्व : बम्बई, 1877

महानिर्वाणतन्त्र : सं० दत्त, एम०एम०, कलकता, 1990

याज्ञवल्क्य स्मृति : भट्टोत्पल की टीका सहित : सं० द्विवेदी, सुधाकर, बनारस, 1895–97

योग रहस्य : सं० नारायण स्वामी, देहली, 1945

रूद्रयामल : सं० डॉ० त्रिपाठी रूद्रदेव, रंजन पब्लिकेशन्स, दरियागंज, नई दिल्ली, 1994

लिंग पुराण : श्रीराम शर्मा, वेदमूर्ति तपोनिष्ट, बरेली, 1975

वेदान्त सूत्र : शंकराचार्य कृत, निर्णय सागर प्रैस, बम्बई, 1948

वृहत्संहिता : वराहमिहिर अनुवाद दुर्गा प्रसाद, लखनऊ, 1884 या सुधाकर द्विवेदी, बनारस, 1895–97

वायु पुराण : सं० आप्टे हरिनारायण, पूना, 1905

विष्णुधर्मोत्तर पुराण : सं० जाली, कलकत्ता, 1881

विष्णु पुराण : सं० व्यासाचार्य, टी०आर०, बम्बई, 1915

मिताक्षरा,विज्ञानेश्वर कृत : सं० धरपुड़े, जे०आर, बम्बई, 1920

शक्ति संगम तन्त्र, भाग-4 : गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज, बड़ोदा, 1978

शुक्रनीतिसार : सं० चन्द्र मिहिर, बम्बई, 1909

शांखायन श्रोतसूत्र : सं० हिलेब्रान्त, कलकत्ता 1882

सम्मोहन तन्त्र : सं० शास्त्री हरप्रसाद, गायकवाड ओरियंटल सीरीज, 1928

साधनमाला : (तीसरी सदी से 12वीं सदी तक के छोटे-छोटे 312 ग्रन्थों का संग्रह), सं० डॉ० भट्टाचार्य, बी०, बड़ौदा, 1928

सेकोद्देशटीका : सं० डॉ० कारेली, मेरियो, बड़ौदा, 1941

सुश्रुतसंहिता : श्री वेंकटेश्वर मुद्रणालय, बम्बई, 1911

हेवज्रतन्त्र : सं० स्नेलग्रोव, डी०एल०, आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रैस, आक्सफोर्ड, 1959

हठयोग प्रदीपिका : बम्बई, 1949

हर्षचरित : सं० फ्यूहरर, ए०आर०, बम्बई, 1909

ज्ञानसिद्धि : इन्द्रभूति, संपादक डॉ० भट्टाचार्य विनयतोष, बड़ोदा, 1929

साहित्य

कल्हण : रजतरंगिणी, रघुनाथ सिंह, हिन्दी प्रचार का संस्थान, भाग-1,2 अनुवादक, आर०एस० पंडित, इलाहाबाद, 1935

कामानंद : कामंदक नीतिसार, त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरिज, त्रिवेन्द्रम, 1912

बाणभट्ट : कादंबरी, सं० शास्त्री श्रीनिवास, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ, 1974

: हर्षचरित, सं० पाठक श्री जगन्नाथ, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1972

भवभूति : मालती माधव, बाम्बे संस्कृत सीरीज, पूना, 1924

राजशेखर : काव्यमीमांसा, सी०डी० दलाल तथा आर०ए० शास्त्री द्वारा बड़ौदा, 1934

सूरि जय सिंह : कुमारपाल चरित, शान्ति विजय मणि, बम्बई, 1926

सोमदेव : कथासरित्सागर, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, खण्ड-1, 1974, खण्ड-2,3, 1961

सोमेश्वरदेव : मानसोल्लास, दो खण्डों में सम्पादित, बड़ौदा, 1925-1934

: कर्पुमन्जरी, सं० जैन, सुदर्शन लाल, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1983

इनसाइक्लोपीडिया तथा शब्दकोष

द्विवेदी, कपिलदेव, सं० अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन, इलाहाबाद, 1951जे० हेस्टींगस 'एड', इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रीलिजन एण्ड एंथिक्स, भाग-12, न्यूयार्क, 1961

इनसाइक्लोपीडिया ऑफ हिन्दूज्म, भाग–10, रूपा पब्लिकेशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2010

वर्मा, रामचन्द्र, मानक हिन्दी कोश, प्रयाग, 2001

पाण्डेय, राजबली, हिन्दू धर्म कोश, उत्तरप्रदेश, 1965

विदेशी ग्रंथ एवं यात्रा विवरण

इत्सिंग, *ए रिकार्ड ऑफ दि बुद्धिस्ट रिलीज़न*, ऑक्सफोर्ड, 1896

वाटर्स० टी०, *ऑन ह्युनसांग, ट्रेवल्स इन इंडिया*, लन्दन, 1904

सचाऊ, ई०सी०, *अलबेरूनी इण्डिया*, लंदन, 1914

सहायक ग्रंथ सूची

अग्रवाल, वासुदेव शरण : *हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन*, पटना, 1953

: *कादंबरी : एक सांस्कृतिक अध्ययन*, बनारस, 1957

अग्रवाल, वासुदेव : *भारतीय कला :* वाराणसी, 1977

आयंगर, सी०वी०एन० : *दा आरिजीन एंड अर्ली हिस्ट्री ऑफ शैविज्म इन साऊथ इंडिया*, कलकत्ता, 1923

अल्तेकर, ए०एस० : *पोजिशन ऑफ वुमैन इन हिन्दू सिविलाइजेशन*, बनारस, 1938

: *प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति*, बनारस, 1948

आर्थर एलोन : *प्रिंसिपल्स ऑफ तन्त्राज, गणेश एंड कम्पनी, मद्रास, 1969*

: *कोलावली निर्णय, कलकत्ता, 1985*

औझा, गौरीशंकर : *मध्यकालीन भारतीय संस्कृति*, इलाहाबाद, 1962

उपाध्याय,अमित कुमार : *पूर्व-मध्यकालीन आर्थिक चिंतन*, वाराणसी, 2009

उपाध्याय, बलदेव : *भारतीय दर्शन*, शारदा संस्थान, वाराणसी, 1985

कुमार, कृष्ण : *प्राचीन भारत का इतिहास*, सरस्वती सदन, नई दिल्ली, 1993

कुमार,विजय : *,शियंट इंडियन सोसाइटी कन्टीन्यूटी एंड चेंज*, संजय प्रकाशन, दिल्ली, 2002

कुमार दास, सुधीन्द्र : शक्ति और डिवाइन पावर, कलकत्ता, 1934

काणे, पी०वी० : *धर्मशास्त्र का इतिहास*, भाग- II, IV, V, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, 1965, 1973

गुप्ता, देवेन्द्र कुमार : *प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था*, न्यू भारतीय बुक कॉर्पोरेशन, दिल्ली, 2004

गुप्ता, दास : *फिलॉसाफिकल एसेज*, कलकत्ता, 1941

गर्ग, अनुपमा : *दा तांत्रिक कार्स*, रूपा पब्लिकेशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2015

गुयेन्थर, एच०वी० : *युगनद्ध द तान्त्रिक, व्यू ऑफ लाइफ*, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, 1952

गोपाल, लल्लन जी : *इक्नोमिक लाईफ ऑफ नार्दन इण्डिया*, हाउस दास पब्लिशर्स, दिल्ली, 1965

गौरव, प्रशान्त : *पूर्व-मध्यकालीन भारत*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009

घोष, अमलानंद : ए गाइड टू नालंदा, मनेजर पब्लिकेशन, दिल्ली, 1956

चक्रवर्ती, चिंताहरण : *दा तन्त्राज : स्टडीज ऑन देयर रिलीजन एंड लिटरेचर*, पुनित पुस्तक, कलकता, 1963

चक्रवर्ती, रणबीर : *ट्रेड एट मनडिपीका इन अर्ली मिडिवल इंडियन सोसायटी*, मुन्शीराम मनोहरलाल, दिल्ली, 1996

चंद, आर०पी० : *दि इंडो-आर्यन रेसेज*, विरेन्द्र रिसर्च सोसायटी राजशाही, 1916

चतुर्वेदी, परशुराम : *चौरासी सिद्ध कौन थे*, ओरियंटल कान्फ्रेंस, लखनऊ, 1961

चन्द्रनाथ, योगी : *योगीसम्प्रदायाविष्कृति*, अहमदाबाद, 1924

चौधरी, एन०एन० : *माडर्न रिव्यू*, 1941

चटर्जी, गौरीशंकर : *हर्षवर्धन*, इलाहाबाद, 1951

झा, डी०एन० : *भारतीय सामंतवाद, राज्य, समाज और विचारधारा*, अनु० आदित्य नारायण, ग्रन्थ शिल्पी, नई दिल्ली, 2000

: *प्राचीन भारत का इतिहास*, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 2012

टॉड कर्नल : *एनल्स एंड अंटिक्यूटी ऑफ राजस्थान*, भाग-1, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता, 1971

थापर, रोमिला : *भारत का इतिहास*, वाल्यूम-1, पेंग्विन बुक्स, नई दिल्ली, 1975

देवराज, एन०के० तथा तिवारी, रामानन्द : *भारतीय दर्शन शास्त्र का इतिहास*, हिन्दुस्तान एकेडमी, इलाहाबाद, 1950

दास, एस०के० : *शक्ति एंड डिवाइस पावर*, कलकत्ता, 1939

षषीभूषण दास, गुप्ता : *आब्सक्योर रिलीजस कल्टस*, फ्रिमा के०एल०एन०, कलकत्ता, 1995

दास गुप्ता, एस०एन० : *हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलॉसफी*, भाग-5, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1975

द्विवेदी, हजारीप्रसाद : *नाथ सम्प्रदाय*, हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग, 1950

: *मध्यकालीन धर्म साधना*, इलाहाबाद, 1952

नंदीमठ, एस०सी० : *ए हैन्डबुक ऑफ वीर शैविज्म, धारवाड़, 1941*

नंदी, आर०एन० : *प्राचीन भारत में धर्म के सामाजिक आधार*, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 1998

: *रिलिजियस इंस्टीट्यूशसं एंड कल्ट्स इन द डेकन (600-1000 ई० सन्)*, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1973

प्रकाश, विद्या : *खजुराहो*, तारापोरवाला, बम्बई, 1967

प्रसाद, बेनी : *हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता*, हिन्दुस्तान एकेडमी, इलाहाबाद, 1950

प्रकाश, ओम : *प्राचीन भारत का आर्थिक इतिहास*, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1986

: *प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994

प्रकाश, बुद्ध : *भारतीय धर्म एवं संस्कृति*, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, 1990

पाठक, विश्वम्भरशरण : *एंशियट हिस्टोरियंस ऑफ इंडिया*, एशिया पब्लिकेशन हाऊस, 1969

पांडेय, के०सी० : *अभिनवगुप्त – ऐन हिस्टारिकल एंड फिलासाफिकल स्टडी*, चौखंबा संस्कृत सीरीज, बनारस, 1935

फर्क्यूहर जे०एन० : *इन आउट लाइन ऑफ दि रिलीजियस लिटरेचर ऑफ इंडिया*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, ऑक्सफोर्ड, 1920

: *रिलीजियस लाइफ इन इंडिया*, लन्दन, 1919

बरूआ, के०एल० : *अर्ली हिस्ट्री ऑफ कामरूप*, गंगा बुक पब्लिकेशन, दिल्ली, 1933

बनर्जी, जे०एन० : *पौराणिक एंड तांत्रिक रिलिजन*, कलकता विश्वविद्यालय, कलकत्ता, 1966

बाशम, ए०एल० : *हिस्ट्री ऐण्ड डॉक्ट्रिन्स ऑफ दि आजीविकाज़,* लन्दन, 1951

बागची, पी०सी० : *स्टडीज इन द तंत्राज,* भाग–1, कलकता विश्वविद्यालय, कलकता, 1939

: *आन सम तांत्रिक टेक्स्ट्स स्टडीज इन एंशिएंट कम्बुज,* इण्डियन हिस्टेरिकल क्वार्टरली, भाग–5, कलकता, 1952

भण्डारकर, आर०जी० : *वैष्णव, शैव एवं अन्य धार्मिक मत,* भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1967

भट्टाचार्य, एन०एन० : *हिस्ट्री ऑफ दि शक्त रिलीजन,* मनोहर पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1982

: *हिस्ट्री ऑफ दि तान्त्रिक रिलीजन,* मनोहर पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1952

भट्टाचार्य, बी० : *इन्ट्रोडक्सन टू बुद्धिस्ट इसोटेरिज्म,* मोतीलाल बनारसी दास पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1932

: *थ्योरी एण्ड प्रेक्टिस ऑफ तन्त्राज,* एक्सल बुक, नई दिल्ली, 1933

: *टू वज्रयान वर्क्स, गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज, बडोदा, 1929*

भारती, धर्मवीर : *सिद्धि–साहित्य,* किताब महल, इलाहाबाद, 1968

मजूमदार, जी०पी० और बनर्जी, एस०सी० : द्वारा संपादित और अनुदित *विवलियोथेका इंडिका,* कलकता, 1960

मजूमदार, आर०सी० : *हिस्ट्री ऑफ बंगाल*, बी०आर० पब्लिक कॉरपोरेशन, ढाका, 1943

: *प्राचीन भारत*, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, 1952

मिश्र, बमबहादुर : *पॉलिटि इन दि अग्निपुराण*, कलकता, 1965

मिश्र, जयशंकर : *प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास*, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1974

: *ग्यारहवीं सदी का भारत*, (अलबेरूनी पर आधारित), भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1968

मित्तल, अमरचन्द्र : *परमारकालीन सभ्यता एवं संस्कृति (800 ई० से 1320 ई० सन्)*, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, 1973

यादव, बी०ए०एस० : *सोसाइटी एंड कल्चर इन नार्दन इंडिया इन टैवल्थ सेंचुरी*, इलाहाबाद, 1973

राय, के०एल० : *अर्ली हिस्ट्री ऑफ कामरूप*, शिलांग, 1933

राय निहांररंजन : *हिस्ट्री ऑफ बंगाली पिपल (प्राचीन काल)*, अनु० डब्ल्यू जॉन हुड, ओरियंट ब्लैकस्वान, 1994

राव, टी० गोपीनाथ : *एलिमेंटस ऑफ हिन्दू आइकानोग्राफी*, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 1994

लियाग, चाओ ची : *चाइनाज डेट टु इंडिया*, विश्वभारती क्वार्टरली जिल्द 2, 1924–25

लाल, भाई दलपत : *परमार अभिलेख,* भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर, अहमदाबाद, 1979

वेबर, मैक्स : *दा रिलीजन ऑफ इंडिया,* अनु० हजारा, आर०सी० मुन्शीराम, मनोहरलाल पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1996

वैद्य, सी०वी० : *मिडिवल हिन्दू इंडिया,* भाग-2, ओरियंटल बुक पब्लिकेशन, पूना, 1921

विंतरनित्ज, एम० : *हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर,* हिंदी अनुवाद, रामचंद पांडेय, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 1966

वुड्रौफ जॉन : *प्रिंसिपल ऑफ तन्त्र,* गणेश पब्लिकेशन कम्पनी, मद्रास, 1932

: *शक्ति एंड शाक्त,* गणेश पब्लिकेशन कम्पनी, मद्रास, 1927

वर्मा हरिश्चन्द्र : *मध्यकालीन भारत,* (750-1510 ई० तक), दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 1983

विद्यालंकार, सत्यकेतु : *भारतीय संस्कृति का विकास,* श्री सरस्वती सदन, नई दिल्ली, 1979

वार्डर, ए०के० : *इंडियन बुद्धिज्म,* मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 1970

शर्मा, आर०एस० : *भारतीय सामन्तवाद,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1965

: *पूर्व-मध्यकालीन भारत में सामाजिक*

परिवर्तन, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 1993

: *प्रारंभिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास*, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 1979

: *शूद्रों का प्राचीन इतिहास*, दि मैकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया लि०, नई दिल्ली, 1979

: *अर्बन डिके इन इण्डिया*, मुन्शीराय मनोहर लाल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1987

: *अली मिडिवल इंडियन सोसायटी : ए स्टडी इन फ्यूडेलिज्म*, ओरियंट ब्लैकश्वान, नई दिल्ली, 2001

शर्मा, बी०एल० : *इकोनोमिक आइडियाज इन एशियंट इंडिया बिफोर कौटिल्य*, रामानंद विद्या भवन, नई दिल्ली, 1985

शर्मा, नीलकमल : *प्राचीन भारत में शक्ति पूजा*, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर, 1986

शर्मा, रजनीकांत : *अलबेरुनी का भारत*, आदर्श हिन्दी पुस्तकालय, मालवीय नगर, इलाहाबाद, 1985

शर्मा, दशरथ : *राजस्थान थ्रू दी एजेज*, भाग-1, बीकानेर, इलाहाबाद, 1976

शुल्क, रामचन्द्र : *जायसी ग्रन्थावली*, बनारस, 2008

शास्त्री, हरप्रसाद : *ए कैटलॉग ऑफ पाम-लिफ एंड सेलेक्टेड पेपर बिलांगिंग टू द दरबार लाइब्रेरी नेपाल*, कलकता, 1905

: *द शक्ति पीठज*, 1948

शास्त्री, देवदत्त : *तन्त्र सिद्धान्त और साधना*, स्मृति प्रकाशन, शहराबाग, इलाहाबाद, 1976

सरकार डी०सी० : संपादक, *द शक्ति कल्ट एंड तारा*, कलकता विश्वविद्यालय, कलकता, 1967

: *मदर राइट इन इंडिया*, हैदराबाद, 1944

: *दा शक्ति पीठज*, जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, भाग-14, 1950

सेन, ए० : *स्कूल एण्ड सेक्ट इन जैन लिटरेचर*, विश्वभारती, 1931

सिंह, लल्लन प्रसाद : *तन्त्र - इट्स मिस्टिक एण्ड साइंटिफिक बेसिस*, कन्सेप्ट पब्लिकेशन कम्पनी, दिल्ली, 1976

सिंह, देवी प्रसाद : *हिन्दू समाज में परिवर्तन की प्रक्रिया*, पूर्वा संस्थान, हरिपुरी विश्वविद्यालय परिसर, गोरखपुर, 1984

सांस्कृत्यायन, राहुल : *पुरातत्व निबन्धावली*, इंडियन प्रैस, प्रयाग, 1923

श्रेडर, एफ० : *इन्ट्रोडक्शन टू पंचरात्र एंड अहिबुध्न्य संहिता*, अड्यार, 1912

शोध पत्र एवं पत्रिकाएँ

- *इण्डियन एन्टिक्वारी* (विभिन्न खण्ड) बम्बई।
- *इण्डियन हिस्टोरिकल रिव्यू*, वॉल्यूम-1, नं० 1, दिल्ली, 1974
- *एपिग्राफिया इण्डिका* - XXXVI
- एन्युअल रिपोर्ट ऑफ आर्क्योलोजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, 1940
- *कापर्स, इंशक्रीप्सनस इण्डिकेरम*, खण्ड- III, पटना, 1974
- *दि इंडियन हिस्ट्रोरिकल रिव्यू*, भाग-VI
- *दि न्यू इंडियन एणिटक्वेटी*
- *जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल*, कलकता, 1894
- *जर्नल ऑफ रॉयल सोसायटी ऑफ आर्ट*, लन्दन
- *जर्नल ऑफ दि यू०पी० हिस्यारिकल सोसाइटी* - XXII - 1951-52
- *जर्नल ऑफ इंडियन हिस्ट्री* - XXXIX
- *जर्नल ऑफ बिहार एंड ओडिसा रिसर्च सोसाइटी* - XIV
- *विवलियोथेका इंडिका* (विभिन्न खण्ड), कलकता, 1960
- *इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली*, खण्ड- III, V, 1929
- *नागरी प्रचारिणी पत्रिका*, काशी, भाग-1, 2, 1950
- *लिंग्विस्टिल सर्वे ऑफ इंडिया*, खण्ड-1

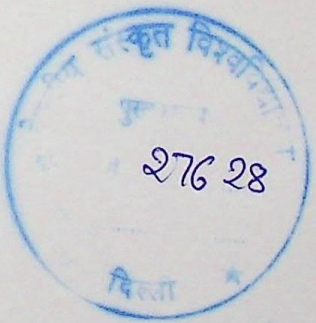

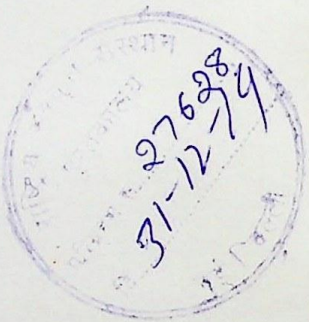
27628
31-12-74

ज्ञानभारती पब्लिकेशन्स
(प्राच्यविद्या प्रकाशक एवं पुस्तक विक्रेता)
25/73 शक्ति नगर, दिल्ली.110007

ISBN 93-85538-34-9
9789385538346